जनवरी - मार्च 1994 वर्ष : 26 अंक 1

वैज्ञानिक

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद की पत्रिका
भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र के सौजन्य से प्रकाशित

मानव विकास एवं सभ्यता : एक अवलोकन

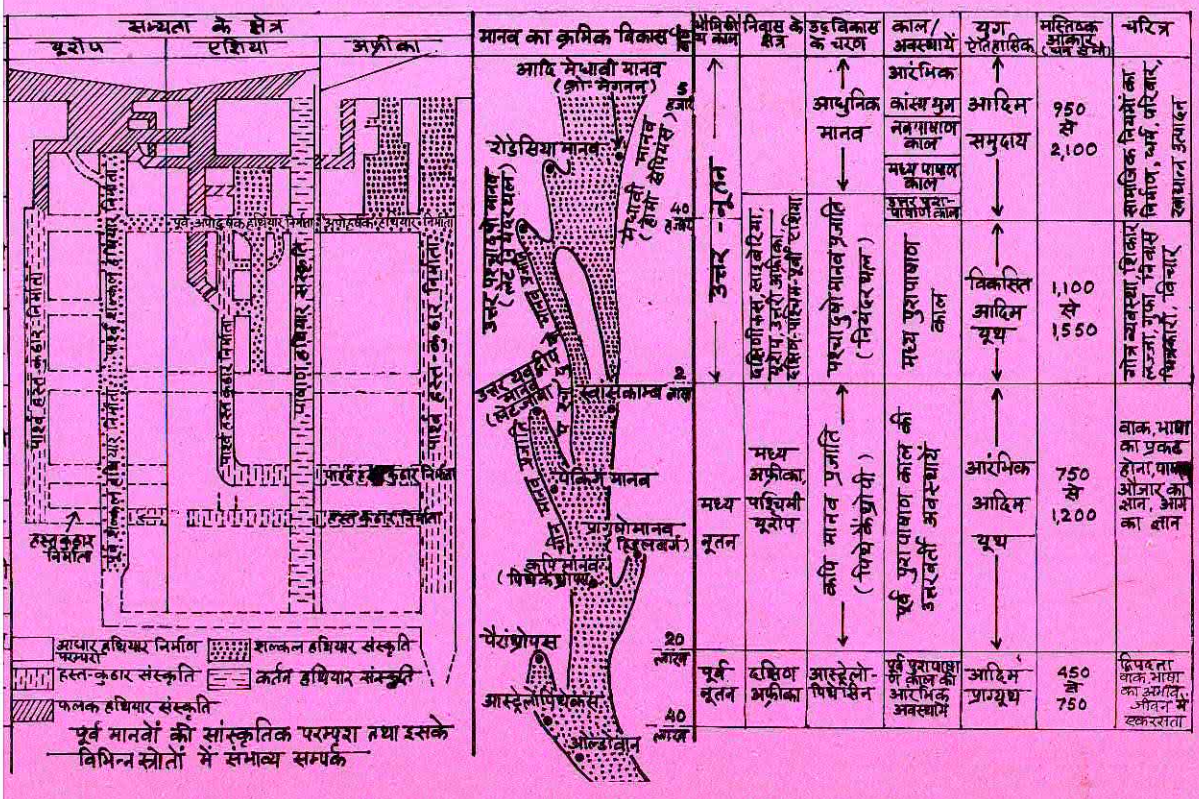

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के सृजन व प्रचार प्रसार हेतु परिषद नियमित रूप से त्रैमासिक पत्रिका "वैज्ञानिक" का प्रकाशन, विज्ञान गोष्ठियों, वार्ताओं एवं अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता का आयोजन करती है ।

परिषद की सदस्यता एवं वैज्ञानिक पत्रिका का शुल्क (रुपए में) इस प्रकार है :

	परिषद सदस्यता			वैज्ञानिक शुल्क		
	एक वर्ष	आजीवन	प्रवेश शुल्क	एक प्रति	एक वर्ष	तीन वर्ष
व्यक्तिगत	15	100	1	5	15	40
संस्थागत	25	250	1		25	70

- **वैज्ञानिक** विशेषांकों का मूल्य अलग से निर्धारित होगा ।
- वर्तमान नियमानुसार परिषद के सदस्यों को **वैज्ञानिक** निःशुल्क भेजी जाती है ।
- सभी शुल्क हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद के नाम से डिमांड ड्राफ्ट (बम्बई) अथवा भारतीय पोस्टल ऑर्डर द्वारा ही भेजें । कृपया बम्बई से बाहर के चैक व मनीऑर्डर द्वारा शुल्क न भेजें ।
- सदस्यता हेतु किसी विशेष फार्म की आवश्यकता नही है । कृपया शुल्क के साथ अपना निजी विवरण इस पत्रिका में दिए गए सदस्यता आवेदन पत्र के प्रारुप के अनुसार भेजें ।

"वैज्ञानिक" में विज्ञापन

हिन्दी में प्रकाशित होने वाली विज्ञान पत्रिकाओं में **वैज्ञानिक** अग्रणी है । देश के सभी मुख्य वैज्ञानिक संस्थान इसके ग्राहक हैं । इस पत्रिका में आपके विज्ञापन आमंत्रित हैं । पूरे पृष्ठ की छपाई का आकार 16सेंमी. x 21 सेंमी. है ।

विज्ञापन की दरें	:	**(एक अंक के लिए)**
अंतिम आवरण	:	रु. 2,500/-
दूसरा/तीसरा आवरण (अंदर)	:	रु. 2,000/-
पूरा पृष्ठ	:	रु. 1,500/-
आधा पृष्ठ	:	रु. 800/-

अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता - 1994

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद एवं राजभाषा कार्यान्वयन समिति (भा.प.अ. केंद्र) के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित हिंदी विज्ञान लेख प्रतियोगिता हेतु प्रविष्टियां आमंत्रित हैं । लेख में किसी भी वैज्ञानिक विषय पर आधुनिक जानकारी होनी चाहिए । दो टंकित अथवा स्पष्ट लिखित प्रतियां (लगभग 3000 शब्द) वैज्ञानिक कार्यालय को भेजें । चित्रों को सफेद कागज पर काली रोशनाई से बनाएं और लेख के अंत में संलग्न कर दें ।

पुरस्कार : प्रथम रु. 1500/-, द्वितीय रु. 1000/-, तृतीय रु. 500/-

इसके अतिरिक्त पांच प्रोत्साहन पुरस्कार व अहिंदी भाषी प्रतियोगियों के लिए दो **विशेष पुरस्कार** - प्रत्येक रु. 300/- के दिये जायेंगे । अतः अपनी मातृभाषा का स्पष्ट उल्लेख करें ।

अंतिम तिथि : 30 सितम्बर 1994

विशेष : पुरस्कृत रचनाएं **वैज्ञानिक** की संपत्ति होंगी । वैज्ञानिक से संबंधित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकेंगे ।

पत्राचार का पता : डॉ. जगदीश चन्द्र मोंगा, सचिव, हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद, लेसर एवं प्रौद्योगिकी प्रभाग
भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, ट्राम्बे, बम्बई - 400 085.

अ नु क्र म णि का

वैज्ञानिक

वर्ष 26 अंक 1

जनवरी - मार्च 1994

व्यवस्थापन मंडल

श्री अशोक कुमार सूरी

डॉ. जगदीश चन्द्र मोंगा

श्री घनश्याम दास मित्तल

श्री ललित कुमार

श्री इंद्र कुमार शर्मा

श्री दीप प्रकाश

संपादन मंडल

डॉ. गोविंद प्रसाद कोठियाल

डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला

डॉ. दुर्गा प्रसाद पांडेय

श्री हरि ओम मित्तल

सहयोग : श्री राम नाथ जिंदल

शुल्क

भारत में

	संस्थागत	व्यक्तिगत
एक वर्ष	25रु.	15रु.
तीन वर्ष	70रु.	40रु.

विदेश में

(समुद्री डाक द्वारा प्रेषण)

	संस्थागत	व्यक्तिगत
एक वर्ष	45रु.	35रु.
तीन वर्ष	125रु.	95रु.

एक प्रति – 5 रु.

शुल्क भेजने का पता :

श्री जी. डी. मित्तल

कोषाध्यक्ष, हि. वि. सा. प.

प्रशिक्षण प्रभाग

भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र

बम्बई - 400 085

पृष्ठ संख्या

संपादकीय 3

लेख

1. **भारतीय प्लेट की भू भौतिकी** 5
   – डॉ. एस. एस. ओझा
2. **धरती की परतों में सोये हमारे पूर्वज** 9
   – डॉ. अवधेश शर्मा
3. **जरण जटिलताएं - एक वैज्ञानिक अवलोकन** 15
   – शील शर्मा
4. **नूवनस्पति विज्ञान - एक संक्षिप्त परिचय** 19
   – डॉ. बृजलाल बिजल्वाण
5. **मधुमेह - कारण और निवारण** 22
   – कु. पूजा तिवारी
6. **सदृश चिकित्सा पद्धति (होम्योपैथी) : वैज्ञानिक पहलू** 26
   – डॉ. धनश्याम दास जिन्दल
7. **अपशिष्ट-जल उपचार प्रौद्योगिकी** 32
   – डॉ. वी. पी. देशपाण्डे और राधेश्याम शर्मा
8. **पशुधन विकास में जैव-प्रौद्योगिकी द्वारा भ्रूण-लिंग निर्धारण एवं चयन की संभावनाएं** 36
   – डॉ. एस. एल. गोस्वामी एवं एस. के. दास
9. **आण्विक जीव विज्ञान के क्षेत्र में अति उपयोगी तकनीकें** 40
   – डॉ. अशोक कुमार

कुछ फूल : कुछ कांटे 44

बाल विज्ञान

आकाश बैंगनी क्यों नहीं दिखाई देता है? 45

क्या चलनी पानी को रोक सकती है? 46
– डॉ. श्यामलाल धीमान

टिप्पणियां

(i) **भूकम्प प्रतिरोधी अभिकल्पन के कुछ पहलू** 48
– वी रामचन्द्रन

- 'वैज्ञानिक' में लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से संपादन मंडल का सहमत होना आवश्यक नही है।
- 'वैज्ञानिक' में प्रकाशित समस्त सामग्री का सर्वाधिकार हि.वि.सा. परिषद के पास सुरक्षित है।
- 'वैज्ञानिक' एवं हि.वि.सा. परिषद से संबंधित सभी विवादों का निर्णय बम्बई के न्यायालय में ही होगा।

कार्यालय :

'वैज्ञानिक' हिन्दी विज्ञान सहित्य परिषद,
सूचना प्रभाग, सेन्ट्रल काम्प्लेक्स,
भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र,
बम्बई - 400 085.

'वैज्ञानिक' का शुल्क

पाठकों से अनुरोध है कि यदि उनका 'वैज्ञानिक' का शुल्क समाप्त हो गया हो, तो उसे भेज कर इसका नवीनीकरण करा लें। 'वैज्ञानिक' में शुल्क संबंधी जानकारी दी गयी है। यदि सम्भव हो तो आजीवन सदस्य बन जाएं

- संपादक

(ii) **सुदूर संवेदन : महासागर अध्ययन में सहायक** 49
मुन्नौवर आलम खालिद

(iii) **पर्यावरण व पशुधन के लिए गंभीर खतरा- लेन्टाना पौधा** 51
डॉ. अनिल कुमार शर्मा

(vi) **चश्मा हानिकारक क्यों ?** 52
मोहम्मद आरिक

विज्ञान समाचार

भा प अ केन्द्र में 54

संगोष्ठी समाचार 55

संकलन

पिछले अंकों की अनुक्रमणिका 58

विज्ञान कविता 60

अखिल भारतीय हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता (1993) का परिणाम 61

श्रद्धांजली 62

सदस्यता आवेदन पत्र का प्रारूप

अध्यक्ष,
हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद
पुस्तकालय एवं सूचना प्रभाग
भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र
बम्बई 400 085

प्रिय महोदय,

मैं, हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद (भापअ केन्द्र, बम्बई) का आजीवन/साधारण सदस्य बनने का इच्छुक हूं। मेरा निजी विवरण निम्नलिखित है। मैं सदस्यता शुल्क साथ भेज रहा हूँ। कृपया मुझे परिषद का आजीवन/साधारण सदस्य बनाने का कष्ट करें।

नाम	: _____	आयु	: _____
पता कार्यालय	: _____	पता निवास	: _____
	_____		
	_____	Qualification	
व्यवसाय	: _____	प्रविणता	: _____
हिन्दी की पात्रता	: _____	अन्य विवरण	: _____
(Specialisation)		हस्ताक्षर	: _____
विशेष रुचि	: _____	दिनांक	:

शुल्क हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद के नाम डिमांड ड्राफ्ट (बम्बई) अथवा भारतीय पोस्टल ऑर्डर द्वारा ही भेजें ।

संपादकीय

हिन्दी में वैज्ञानिक संगोष्ठियां

पिछले कुछ वर्षों से वैज्ञानिक संगोष्ठियों के आयोजनों में निरंतर बढ़ोत्तरी होती जा रही है। संगोष्ठी /सेमिनार का मूल प्रयोजन विभिन्न संस्थानों में कार्यरत वैज्ञानिकों/प्रौद्योगविदों के बीच आपस में अपने नवीनतम शोध परिणामों / खोजों के ऊपर चर्चा तथा अपने कार्यों/शोध विषयों में आ रही कठिनाइयों के बारे में विचार विमर्श एवं समाधान के लिए दिशा प्राप्त करने हेतु एक मंच प्रदान करना होता है। यह एक ऐसा मंच है जहां श्रोता तत्काल अपनी जिज्ञासा के लिए प्रश्न कर सकता है और कुछ हद तक उसकी तुष्टि भी कर सकता है। ये कितनी सफल होती हैं तथा इससे कितने वैज्ञानिक लाभान्वित होते हैं यह तो अलग प्रश्न है परन्तु इनकी आवश्यकता निसंदेह बनी हुयी है। यह हमेशा संभव नही हो पाता है कि हर एक वैज्ञानिक अपनी समस्याओं एवं गुत्थियों को लेकर दूसरे वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में जाए और चर्चा कर सके। कभी कभी तो इसका पता चलना कि अमुक वैज्ञानिक हमारे क्षेत्र में कार्य कर रहा है कठिन हो जाता है। इतने अधिक शोध ग्रंथ एवं पत्रिकाएं छपती हैं कि उन सभी को साधारणतः पढ़ना लगभग असंभव सा है। हालांकि आजकल कंप्यूटर में डाटा आधार से संदर्भों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में काफी हद तक सहायता मिलती है फिर भी कितने वैज्ञानिकों को इनका लाभ मिल पाता है? इन सबके बावजूद भी कुछ न कुछ रह ही जाता है। ऐसे में संगोष्ठियों/सेमिनार के माध्यम से कभी कभी कार्यकर्ता के बारे में सीधी जानकारी मिल जाती है और विचार विमर्श का अच्छा अवसर भी मिल जाता है। आज प्रसारण के बाद प्रकाशन सूचना और शिक्षा प्रसार का दूसरा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा कोई अपनी बात को शिक्षित वर्ग तक पहुंचाने में सक्षम है। विज्ञान का प्रसार भी इस माध्यम से होता रहा है। प्रसार की एक और विधा है विचार गोष्ठी/कार्यशाला जिसके द्वारा श्रोताओं को जानकारी दी जा सकती है। इसमें विचारों का प्रत्यक्ष रुप में आदान प्रदान होता है। यह उल्लेखनीय है कि पढ़ने-लिखने से पहले सुनने और समझने की बात आती है। लिपि बनने से पहले मौखिक रुप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जानकारी जाती रही है। इस संदर्भ में भाषा की भूमिका अहम है।

भारत जैसे विकासशील देशों में प्रगत वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने में अंग्रेजी भाषा को काफी महत्वपूर्ण समझा जाता है। यह इसलिए कि यहां सभी उच्च स्तरीय पठन-पाठन का कार्य अंग्रेजी के माध्यम से होता आ रहा है। इसके कई कारण हो सकते हैं। इनमें से एक यह है कि अधिकांश उच्च स्तरीय वैज्ञानिक साहित्य अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में उपलब्ध है। इसके साथ साथ हमारी मानसिकता पर अंग्रेजी भाषा और संस्कृति का गहन प्रभाव है। क्या यह सदैव चलता रहेगा? क्या इस मानसिकता को लिए हम जन सामान्य को विज्ञान की नवीनतम खोजों का लाभ पहुंचा पाएंगे? इन प्रश्नों पर विचार सामयिक है।

जब जन सामान्य को वैज्ञानिक जानकारी देने का प्रश्न उठता है तो यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि उन्हें क्या और कितनी जानकारी दी जा सकती है। तथा संचरण का माध्यम क्या होना चाहिए? यह न तो संभव है और न ही आवश्यक कि हर व्यक्ति को भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र या अन्य किसी विषय की संपूर्ण जानकारी उतनी ही समझ में आए जितनी कि किसी विशेषज्ञ को। हमारी मानसिकता तथा मनःस्थिति के कारण कुछ ऐसी गलत धारणा फैली हुयी है कि हर अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, जापानी आदि बोलने वाले विज्ञान में पारंगत हैं। वास्तविकता तो यह है कि वहां का जन सामान्य भी वैज्ञानिक गुत्थियों के बारे में अन्य राष्ट्रों के जन सामान्य की तरह अनविज्ञ है। अज्ञानता के स्तर में अन्तर अवश्य है। उन्हें नवीनतम विज्ञान पर आधारित उपकरण एवं सुविधाओं का लाभ आसानी से मिल पाता है।

आज सबसे अहम प्रश्न है जन सामान्य में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करना ताकि वे तार्किक (लॉजिकल) तौर पर सोच सकें, अंधविश्वासों से मुक्ति पाकर अपने जीवन स्तर में सुधार ला पाएं। पर्यावरण, जनस्वास्थ्य, स्वच्छता, पोषण इत्यादि से संबंधित वैज्ञानिक तथ्यों को जान सकें तथा अपने अपने उद्योग धन्धों एवं कार्यों में वैज्ञानिक

तरीकों का समावेश कर दक्षता से कार्य संपन्न कर राष्ट्रीय हित में अधिकाधिक उत्पादन कर सकें। इस कार्य की जिम्मेदारी वैज्ञानिकों तथा शिक्षित वर्ग की है। समाज के प्रति यह उनका कर्तव्य भी बनता है।

जन सामान्य में वैज्ञानिक चेतना जागृत करने की भावना से प्रेरित होकर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक संगोष्ठियों के आयोजन का सिलसिला शुरू हुआ। सर्वप्रथम तो प्रश्न था कि क्या हिन्दी भाषा में विज्ञान गोष्ठियां संभव हैं? क्या हिन्दी के माध्यम से विज्ञान के गूढ़ विषयों को समझाया जा सकता है? इसका स्वरुप क्या होना चाहिए? इत्यादि। इस कार्य का श्रीगणेश अंग्रेजी में प्रचलित संगोष्ठियों के वर्तमान स्वरुप को ही अपनाने के साथ हुआ। इनकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती गयी। और विषयों में विविधता भी आयी।

यूं तो हर वैज्ञानिक संगोष्ठी के आयोजन में लक्ष्य वर्ग को ध्यान में रखना पड़ता है परंतु हिन्दी में की जाने वाली गोष्ठियों में इसका ध्यान और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसका उद्देश्य जन सामान्य तक पहुंचने का है। अतः इस आंदोलन को सफल बनाने के लिए चार स्तरीय कार्यक्रम आवश्यक हैं।

(i) वे वैज्ञानिक भाग लें जो विषय को जानते हैं और हिन्दी समझते हैं ताकि स्पष्ट हो सके कि अंग्रेजी में अर्जित ज्ञान को जब हिन्दी में बताया जा रहा है तो वे सरलता से उसे समझ पाते हैं या नहीं।

(ii) दूसरा श्रोता वर्ग वह हो जो विषय को नही जानते परंतु हिन्दी समझते हों तथा हिन्दी प्रदेशों से हों। इस प्रकार की संगोष्ठी के लिए वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा तथा शैली में आवश्यक परिवर्तन लाना होगा।

(iii) तीसरा श्रोता/लक्ष्यवर्ग वह है जो विषय तो समझता है परंतु हिन्दी अच्छी तरह से न समझता हो, तथा

(iv) अंतिम लक्ष्य वर्ग में वे लोग शामिल हैं जिन्हें विषय के बारे में जानकारी न हो और हिन्दी का ज्ञान भी सामान्य ही हो।

इन चार स्तरों पर कार्य करने से यह जानकारी मिलेगी कि किस प्रकार विषय, उसका स्तर, शब्दों एवं शैली का चुनाव किया जाय कि वे जन सामान्य द्वारा समझी जा सकें तथा दी जा रही जानकारी के प्रति उनमें रुचि पैदा हो तथा उसके मन में जो आशंकाएं रह जांय उनका समाधान वक्ता द्वारा तत्काल हो सके। कार्य कठिन अवश्य है पर असंभव नहीं।

अभी तक आयोजित संगोष्ठियों से एक बात तो स्पष्ट होती जा रही है कि वैज्ञानिक विषयों को हिन्दी के माध्यम से समझाया जा सकता है। अधिकांश गोष्ठियों में उपस्थित श्रोता साधारणतः विषय को अंग्रेजी में समझते है तथा उन्हें हिन्दी का ज्ञान भी रहता है। यद्यपि यह बात हास्यास्पद लगती है कि जिस विषय का ज्ञान हमें पहले से ही अंग्रेजी में है उसे पुनः हिन्दी में पढ़ा, सुना तथा समझा जाय। परंतु यह एक आवश्यक प्रक्रिया है क्योंकि इसी आधार पर अगला कार्यक्रम बनाया जा सकता है।

अब समय आ गया है जब इन संगोष्ठियों के स्वरूप में बदलाव लाया जाय तथा इन्हें सीमित दायरे से निकाल कर उन लोगों के बीच आयोजित किया जाए जिनके लिए यह आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था। अन्यथा कहीं ऐसा न हो जाय कि यह शिक्षित वर्ग में ही सिमट कर भविष्य के लिए निराशा के बीज बोकर अपना अस्तित्व खो बैठे ।

● ● ● ●

प्रस्तुत अंक वर्ष 1994 का प्रथम अंक है जिसमें मिश्रित सामग्री संजोयी गयी है। अखिल भारतीय लेख प्रतियोगिता के परिणाम, कुछ संगोष्ठी समाचार भी दिए गए हैं। इस अंक के छपने के दौरान एक अत्यन्त दुःखद घटना हुयी। ''वैज्ञानिक'' के संपादक एवं हिन्दी में विज्ञान को जन सामान्य तक पहुंचाने के लिए प्रयत्नशील, डॉ. जनार्दन स्वरुप का 19 फरवरी 1994 को एक लम्बी बीमारी के बाद स्वर्गवास हो गया। हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद तथा ''वैज्ञानिक'' परिवार उनके निधन पर अत्यन्त शोक व्यक्त करता है। प्रस्तुत अंक उनके महत्वपूर्ण सहयोग के लिये उनको समर्पित है

डॉ. गोविंद प्रसाद कोठियाल

भारतीय प्लेट की भूभौतिकी

डॉ. एस. एस. ओझा
प्रवक्ता - भूगोल विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

भू-पर्यावरण के अन्तर्गत स्थल मण्डल, वायु मण्डल, जल मण्डल तथा जीव मण्डल के सभी संघटक आते हैं। इनमें होने वाले निरन्तर परिवर्तनों के कारण किसी स्थान की भूभौतिकी में भी निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं। इन्हीं के कारण भूकम्प, ज्वालामुखी, मरुस्थलीकरण तथा बाढ़ क्षेत्रों का विकास होता रहता है। ये ही पर्वतों तथा समुद्रों के निर्माण तथा अल्प एवं अतितापीय प्रदेशों के विकास का कारण होते हैं। जल एवं वायु मण्डल के प्रदूषण में भी ये सहायक होते हैं। प्रदेशों के निर्माण एवं विनाश का प्रत्यक्ष उदाहरण, भूपर्यावरण एवं भूभौतिकी का भारतीय उच्च महाद्वीप के परिप्रेक्ष्य में योगदान का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

भू-पर्यावरण के अन्तर्गत स्थल मण्डल, वायु मण्डल, जल मण्डल तथा जीव मण्डल के सभी संघटक आते हैं। भारत के भू-पर्यावरण में तीन स्तर के परिवर्तन हो रहे हैं। प्रथम, दीर्घ स्तर या पार्थिव स्तर है जिसके अन्तर्गत पार्थिव तापाधिक्य, जलवायु परिवर्तन, हिमानीकरण, पर्वत निर्माण, महादेश की उत्पत्ति तथा समुद्र तल परिवर्तन आते हैं। दूसरा, मध्यमस्तर है जिसके अन्तर्गत प्रादेशिक परिवर्तन जैसे भूकम्प, ज्वालामुखी, मरुस्थलीकरण बाढ़-क्षेत्रों का विकास तथा उत्खात्-भूमि का विकास आता है। तीसरा, सूक्ष्म स्तर है, जिसमें स्थानिक स्तर के झील एवं तालाब, जल का प्रदूषण, नगरीय-वायुमण्डलीय प्रदूषण तथा विकिरण संकट आते हैं। इनमें प्रथम एवं द्वितीय स्तर की घटनायें भारत की भूभौतिकी में आये परिवर्तनों का परिणाम हैं जब कि तृतीय मानवकृत हैं।

हिमालय का लगातार ऊपर उठना, हिमालय की भूकम्पीय घटनायें, बारेन द्वीप का ज्वालामुखी उद्गार, भारत के पूर्वी तट का निमज्जन इत्यादि दीर्घ-स्तरीय भू-पर्यावरणीय परिवर्तनों की वैज्ञानिक व्याख्या भारतीय प्लेट के भू-भौतिकी से की जा सकती है।

भू-भौतिकी वह अन्तरानुनासिक विज्ञान है जो पृथ्वी के अन्तरात तथा भूपर्पटी (क्रस्ट) के भौतिकी का प्राकृतिक तथा मानवकृत भूकम्पीय तरंगों का सांख्यिकीय विधि द्वारा अध्ययन करता हैं। पृथ्वी की 35 से 100 किमी. मोटी पपड़ी या भूपर्पटी कई टुकड़ों में विभक्त है जिन्हें प्लेट कहा जाता है। महासागरीय प्लेट की मोटाई 35 किमी. तथा महाद्वीपीय प्लेट की 70 किमी. से अधिक होती है। ये प्लेट अर्द्ध तरलावस्था वाले पदार्थ के मंडल एस्थिनोस्फीयर पर खिसकती रहती हैं जिसका कारण पृथ्वी का घूर्णन तथा एस्थिनोस्फीयर की लगभग 1000° से. तापमान वाली संरचना से संवहन तरंगों का उठना है। भूपर्पटी प्लेट तथा इसके नीचे स्थित मैन्टिल के मध्य घर्षण से एस्थिनोस्फीयर में लगातार भू-तापीय ऊर्जा उत्पन्न होती रहती है। इस मेखला में भूकम्पीय तरंगें धीमी होने के कारण इसे सूक्ष्म गति क्षेत्र (Low Velocity Zone - LVZ) कहा जाता है।

पृथ्वी की भूपर्पटी कई खण्डों में विभक्त है। जिनमें 6 बृहद् प्लेटों में अमेरिकी, अफ्रीकी, यूरेशियाई, भारतीय, प्रशान्त तथा अण्टार्कटिका हैं। इसके अतिरिक्त,

लघु प्लेटों में कोकोज (मध्य अमेरिका के पश्चिम), जुआन डी फूका (कनाडा में वैंकूवर के पश्चिम), नज्का (दक्षिणी अमेरिका के पश्चिम), कैरीबियन (मध्य अमेरिका के पूर्व), अरैबियन (सऊदी अरब), फिलीपीन्स (फिलीपीन्स के पूर्व), स्कोशिया (टिएराडेल फ्यूगो के पूर्व), विसमार्क(माइक्रोनेशिया, पालीनेशिया तथा मेलानेशिया), चीनी, नूबियन (मिश्र), तथा सोमाली हैं।

भारतीय प्लेट बृहद प्लेटों में से एक हैं। जिसकी उत्तरी सीमा प्रायद्वीपीय पठार के उत्तरी अग्रभाग अर्थात् राजमहल पहाड़ियाँ, छोटा नागपुर, बघेलखण्ड बुन्देलखण्ड, मालवा पठार तथा अरावली पहाड़ी को मिलाने वाले अक्ष के सहारे स्थित है। इसकी पश्चिमी सीमा अरब सागर में स्थित कार्ल्सबर्ग समुद्री कटक (1752 मीटर गहरा) हिन्द महासागर में स्थित मिड इण्डियन समुद्री कटक (2067 मी. गहरा) द्वारा तथा दक्षिणी सीमा हिन्द महासागर में स्थित दक्षिणी-पूर्वी भारतीय समुद्री कटक (3017 मी. गहरा) तथा पूर्वी सीमा न्यूजीलैण्ड द्वीप तथा कर्माडिक कटक (न्यूजीलैण्ड के उत्तर-पूर्व स्थित) तथा उत्तरी पूर्वी सीमा न्यूगिनी, जावा, सुमात्रा तथा अण्डमान द्वीपों को मिलाने वाली रेखा के सहारे स्थित है।

किसी प्लेट के तीन किनारे होते हैं। प्रथम रचनात्मक किनारे (Constructive margin) के सहारे दो प्लेट एक दूसरे के विपरीत दिशा में खिसकती हैं जिससे उत्पन्न दरार से एस्थिनोस्फीयर या मैगमा चैम्बर का मैग्मा उद्गरित हो भूपर्पटी पर आकर ज्वालामुखी निक्षेप करता है। भारतीय प्लेट का पश्चिमी तथा दक्षिणी कगार इसी प्रकार का है जिसके सहारे ज्वालामुखी उद्गार से निर्मित अधः समुद्री कटक हैं। किसी प्लेट का दूसरा किनारा विनाशात्मक (destructive) है जिसके सहारे दो प्लेटों के किनारे आपस में टकराते हैं तथा फलस्वरूप एक प्लेट का किनारा दूसरी प्लेट के नीचे अधोगमन (Sub duction) करता है। इससे स्थल खण्ड का भाग एस्थिनोस्फीयर में जाकर विनष्ट (मैगमा में रूपान्तरित) हो जाता है। भारतीय प्लेट का उत्तरी कगार विनाशात्मक है। जो यूरेशियाई प्लेट के नीचे अधोगमित हो रहा है। भारतीय प्लेट के उत्तरी किनारे की भूपर्पटी के हिमालय की जड़ों के अधोगमन से हिमालय की जड़ों में मैगमा का निर्माण हो रहा है जो भारतीय प्लेट के दबाव के साथ कार्य कर रहा है जिससे हिमालय पर्वत ऊपर उठ रहा है। प्लेट का तीसरा किनारा संरक्षी (conservative) होता है जिसके सहारे दो प्लेट पार्श्ववर्ती दिशा में एक दूसरे से विपरीत दिशा में प्रवाहित होती हैं। ऐसी स्थिति में न तो प्लेट के किनारे पर विनाश होता है न ही विकास।

भारतीय प्लेट भौगर्भिक विगत में गोण्ड वाना लैण्ड से सम्बद्ध थी जिसके अन्तर्गत दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, अण्टार्कटिका, भारत तथा आस्ट्रेलिया थे। नासा (NASA) के अमरीकी वैज्ञानिक जान आर. मार्शल तथा भारतीय वैज्ञानिक हंस अग्रवाल के अनुसार सुपर कान्टीनैन्ट गोडवाना लैण्ड का विखण्डन उल्कापात अथवा क्षुद्र ग्रह (Asteroid) से हुआ। लगभग 2000 लाख वर्ष पूर्व गोडवाना लैण्ड के विखण्डन एवं पृथ्वी की आन्तरिक शक्तियों के कारण भारतीय प्लेट 12 सेमी. प्रति वर्ष की दर से उत्तर दिशा प्रवाहित हुयी। भारतीय प्लेट तथा इसके उत्तर स्थित यूरेशियाई प्लेट के मध्य स्थित टिथीस सागर में जमा अवसाद पर भारतीय प्लेट का दबाव पड़ा जिससे अरसादी बलुआ पत्थर वाले मोड़दार हिमालय पर्वत की उत्पत्ति हुई। भारतीय प्लेट सर्वप्रथम लद्दाख के पास यूरेशियाई प्लेट से टकरायी जिससे इसकी गति धीमी हो गयी। साथ ही इसकी घूर्णन दिशा में भी परिवर्तन आया। लद्दाख से टकराने से भारतीय प्लेट एक दरवाजे की तरह बन्द होने लगी जिससे इसकी प्रवाह दिशा दक्षिण पश्चिम से उत्तर-पूर्व हो गयी, जो आज भी है। आज इसकी प्रवाह गति 12 सेंमी. वार्षिक से घट कर 5.5 सेंमी. वार्षिक हो गयी है।

राष्ट्रीय भूभौतिकी अनुसंधान संस्थान (NGRI) हैदराबाद के वैज्ञानिकों के अनुसार मेडागास्कर, जो

अफ्रीका में महाद्वीप का भाग कहा जाता है, पहले धारवार प्रोटोकन्टीनेन्ट से भौतिक रूप से सम्बद्ध था। लगभग 1400 लाख वर्ष पूर्व भारतीय प्लेट से अलग ही कर यह 600 लाख वर्ष पश्चात् ही यह वर्तमान स्थिति तक पहुँचा। विखण्डन के पूर्व भारत तथा मेडागास्कर 4 सेमी. प्रतिवर्ष की दर से उत्तर खिसक रहे थे। विखण्डन के पश्चात भारतीय प्लेट, यूरेशियाई प्लेट से टकरायी तथा मेडागास्कर लघु प्लेट तथा भारतीय मुख्य प्लेट के मध्य कार्ल्सवर्ग तथा हिन्द महासागरीय कटकों का निर्माण हुआ जो रचनात्मक प्लेट किनारे पर बेसाल्ट की बनी हैं। यह धारणा निम्न तथ्यों से प्रमाणित होती है।

1. मेडागास्कर के पूर्वी तथा भारत के पश्चिमी किनारों से भू-उपग्रहों तथा भौगर्भिक एवं विवर्तिनिकी अन्वेषणों से प्राप्त भू-चुम्बकीय आंकड़ों में अनुरूपता।
2. दोनों की भौगर्भिक संरचना में समरूपता।
3. दोनों के पास स्थित उथले सागरों के जीवावशेष में साम्य।

पूर्व भूगर्भशास्त्री मानते थे कि भारतीय प्लेट अपने स्थान पर स्थिर है तथा हिमालय की उत्पत्ति का कारण यूरशियाई प्लेट या अंगारालैण्ड का दक्षिण की तरफ प्रवाह है। किन्तु भारतीय भूभौतिकी सर्वेक्षण विभाग, बंगलौर तथा चीनी भूभौतिकी सर्वेक्षण विभाग, बीजिंग ने निर्विवाद रूप से सत्यापित कर दिया है कि भारतीय प्लेट ही उत्तर-पूर्व दिशा में 5.5 सेमी. प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही है।

भारतीय प्लेट की गति के भू-पर्यावरणीय परिणाम एवं साक्ष्य

1. हिमालय श्रेणियों का 2.2 सेंमी प्रतिवर्ष की दर से उत्थापन इस बात का प्रमाण है कि भारतीय प्लेट का उत्तरी कगार प्लेट विवर्तिनिकी दृष्टि से सक्रिय है।
2. पामीर गाँठ से अराकान्योमा तक हिमालय प्रदेश के सहारे आने वाले विभिन्न आयाम के भूकम्प इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारतीय प्लेट के उत्तरी कगार का अधोगमित भाग एस्थिनोस्फीयर में पहुँचकर मैगमा रूप में परिवर्तित हो रहा है जो हिमालय की संरचना पर दबाव डाल रहा है जिसके कारण हिमालय पर मेन बाउन्डरी थ्रस्ट (MBT) तथा मेन सेन्ट्रल थ्रस्ट (MCT) के सहारे भूकम्प के धक्के लगते हैं। गढ़वाल भूकम्प इसका एक ज्वलन्त साक्ष्य है।
3. एअरोमैगनेटिक सर्वेक्षण से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार ऊपरी तथा मध्य गंगा के मैदान में अवसाद की गहराई 8000-6000 मी. है। अवसाद की मोटाई हिमालय पर्वतपाद के पास अधिक तथा दक्षिण पठार की तरफ जाने पर कम होती है। जो इस बात का सूचक है कि भारतीय प्लेट के उत्तर-पूर्व प्रवाहित होने से इसका उत्तरी कगार हिमालय की जड़ों में अधोगमित हुआ जिससे हिमालय श्रेणी तथा पठार के उत्तरी कगार के मध्य एक खाई (ट्रेन्थ) बन गई जिसकी गहराई उत्तर में अधिक थी जिसमें हिमालय से नदियों द्वारा लाया गया अवसाद अधिक मोटाई में जमा हो गया।
4. कोंकण कन्नड़ तट के अनेक स्थलरूप इंगित करते हैं कि इनका निर्माण उत्थापन के फलस्वरूप हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि भौगर्भिक विगत में भारत के पश्चिमी तट का (गुजरात के कच्छ को छोड़कर) उत्थापन हुआ है।
5. पहले भारत का धारवार (कर्नाटक) तथा मेडागास्कर तथा अफ्रीका आपस में सम्बद्ध थे तथा भारत वर्तमान की अपेक्षा दक्षिण स्थिति में भूमध्यरेखा पर था। विखण्डन के पश्चात् मेडागास्कर तथा अफ्रीका भारत से अलग हो गये तथा भारत भूखण्ड के पश्चिम का भूखण्ड निमज्जित हो गया जिस पर हिन्द महासागर का जल फैल गया जो अरब सागर कहलाया। इसी भ्रंशन के समय भारत के पश्चिमी घाट पर्वत

का जन्म हुआ तथा निमज्जित स्थल खण्ड के भूमध्यरेखीय वन दब कर पेट्रोलियम रूप में परिवर्तित हो गये। बम्बई से 80 किमी. पश्चिम अरब सागर में स्थित 'बाम्बे हाई' का पेट्रोलियम इसी का परिणाम है।

6. छोटा नागपुर पठार के पूर्वी तथा दक्षिणी कगारों के सहारे स्थित भारत का प्रधान कोयला क्षेत्र या 'कोयलांचल' भी इस बात का साक्ष्य हैं कि यह क्षेत्र भी भूमध्यरेखीय वन से आच्छादित था। मेघालय पठार के छोटा नागपुर पठार से अलग होने की विवर्तिनिकी घटना के दौरान ये वनस्पतियां दब कर कोयले में परिवर्तित हो गईं।

7. मध्य प्रदेश के मोहगांव कला के अन्तर्ट्रैप संस्तरों के मध्य मिलने वाले जीवाश्मीकृत नारियल फल के पुरावनस्पतिविदों द्वारा कार्बन -14 निथिकरण विधि द्वारा अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यह लगभग 700 लाख वर्ष पुराना तृतीयक युग का है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय मध्य प्रदेश में कोकोनट प्रजाति वाले भूमध्यरेखीय वन थे अर्थात मध्य प्रदेश भूमध्यरेखा पर था। प्लेट विवर्तिनिकी के कारण वर्तमान अक्षांशीय स्थिति पर है।

8. आज से लगभग 1000 लाख वर्ष पूर्व राजमहल लावा के उद्‌गार के समय भारतवर्ष वर्तमान स्थिति के सापेक्ष्य में 2250 किमी. दक्षिण में था दूसरे शब्दों में 20° दक्षिण अक्षांशीय स्थिति पर था। कन्याकुमारी जो आज 8°4' उत्तरी अक्षांश पर स्थित है, उस समय लगभग 12° दक्षिणी अक्षांश पर था।

9. प्रवाह से प्रत्येक स्थान की चुम्बकीय नति में परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए सन 1970 में इलाहाबाद की चुम्बकीय नति ½" पश्चिम थी जो 1' वार्षिक के दर से घट रही थी।

10. भारतीय प्लेट के उत्तरी-पूर्वी कगार पर बंगाल की खाड़ी भूसन्नति हैं जिसमें गंगा, ब्रह्मपुत्र नदी तल द्वारा पर्याप्त अवसादन से निमज्जन हो रहा है। इसका प्रमाण गंगा डेल्टा में सुन्दरी वृक्ष की समुद्र-तल से 15 से 150 मी. की गहराई पर मिलने वाली खड़ी जड़ें हैं।

11. बंगाल की खाड़ी भूसन्नति के अधोगमन से भारत का पूर्वी तट 1.2 मि.मी. प्रतिवर्ष की दर से नीचे बैठ रहा है।

12. बंगाल की खाड़ी भूसन्नति के अधोगमन से उत्पन्न दरारों से मैगमा पृथ्वी की सतह पर आ रहा है। अण्डमान तथा निकोबार द्वीपों के ज्वालामुखी इस बात की पुष्टि करते हैं। 10 अप्रैल 1991 को बारेन द्वीप पर उद्‌गरित ज्वालामुखी इस संदर्भ में एक ज्वलन्त उदाहरण है।

13. शिवालिक की उत्पत्ति के पूर्व इण्डोब्रह्म नदी हिमालय के दक्षिणी पर्वत के सहारे पूरब से पश्चिम प्रवाहित हो अरब सागर में गिरती थी। प्लेट विवर्तिनिकी के कारण दिल्ली जलविभाजक के उत्थान से इस नदी का मार्ग परिवर्तित हो गया जो बंगाल की खाड़ी में गिरने लगी तथा इसका परित्यक्त भाग आज भी हरियाणा में घग्गर नदी के रूप में है जिसका जल वर्षाकाल में राजस्थान की तलवारा झील में सूख जाता है।

14. प्राकृतिक तेल एवं गैस आयोग द्वारा शिवालिक के पर्वतपाद प्रदेश में किये गये एक बोरिंग से लगभग 1700 फीट की गहराई पर एक मीठे जल की झील का पता लगा जो वस्तुतः इण्डोब्रह्म नदी की घाटी है जिसमें बालुका युक्त अवसाद में पर्याप्त जल भी मिलता है। भारतीय प्लेट के उत्तर-पूर्व दिशा में संचयन से यह घाटी उत्थापित हो गई जिससे शिवालिक श्रेणी की उत्पत्ति हुई।

(शेष भाग पृष्ठ 47 पर)

धरती की परतों में सोये हमारे पूर्वज

डॉ. अवधेश शर्मा, वैज्ञानिक
केंद्रीय ईंधन अनुसंधान संस्थान
कोयला सर्वेक्षण प्रयोगशाला
पोस्ट बाक्स-41
बिलासपुर (म. प्र.) – 495 001

साढ़े चार अरब वर्ष प्राचीन इस धरती पर मनुष्य नाम का प्रबुद्ध प्राणी कब आया? इस पर नृतत्वशास्त्री आज तक एकमत नहीं हैं। पुरातत्ववेताओं के फावड़े कभी कभी धरती की ऐसी परतों से जा टकराते हैं जहां से प्राप्त अस्थि-अवशेष, मानव की सभ्यता एवं विकास पर प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं। कुछ अस्थि-अवशेषों के मिलने से वैज्ञानिकों ने मानव विकास के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, कालांतर में वे ही सिद्धांत नये अवशेषों के मिलने से बदल गये। इस तरह आज-तक मानव विकास में एक सर्वमान्य धारणा ने जन्म नहीं लिया। प्रस्तुत लेख में मानव उत्पत्ति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

सन् 1969 से पूर्व, यह अवधारणा सर्वमान्य प्रचलित थी कि आदि मानव का जन्म 38 हजार वर्ष पूर्व हुआ था। सन् 1969 पेरिस सम्मेलन के पुरातत्ववेताओं और स्तर-विज्ञान विशेषज्ञों (स्ट्रेटीग्राफर्स) ने अपनी खोजों एवं शोध के जरिये इस मान्यता को गलत सिद्ध कर दिया। इन विशेषज्ञों ने मिट्टी एवं चट्टानों के स्तरों की जो व्याख्या की वह जीवाश्मों (फॉसिल्स) के काल निर्धारण में काफी सहायक सिद्ध हुई। सम्मेलन में वे नृतत्वशास्त्री भी मौजूद थे जो अस्थियों की बनावट देखकर मनुष्य शरीर के विभिन्न लक्षणों का पता लगा लेते हैं।

खोज के साधन :

मानव विकास के बारे में जानकारी प्राप्त करने के दो साधन अभी तक उपयोग में लाये गये हैं। पहला, जिसमें आदि मानव के कंकाल प्राप्त हुए हैं एवं दूसरा, उनके द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले औजार। ये दोनों वस्तुएं बड़ी संख्या में अफ्रीका, यूरोप एवं पश्चिमी एशिया में उत्खनन् से प्राप्त हुई हैं। रूसी नृतत्वशास्त्री एवं मूर्तिकार प्रोफेसर माइकेल जेरासियोव ने यूराल में प्राप्त जीवाश्म की रचना की है। इन प्रतिमाओं द्वारा इन्होनें आदि मानव का वह रूप प्रदर्शित किया जो शरीर रचनाशास्त्र के नियमों के आधार पर तर्क संगत प्रतीत होता है। इन्होंनें कवि शिलर जैसे जाने-माने व्यक्ति की खोपड़ी पर इस प्रणाली से जो प्रतिमा तैयार की थी उसका कवि के चित्र से बहुत साम्य था।

कालक्रम की दृष्टि से प्राचीन अवशेषों की श्रृंखला में अनेक कड़ियां अभी तक अप्राप्त हैं। इस अभाव के कारण पुरातन एवं आधुनिक मानव के अंतर के बारे में, नृतत्वशास्त्री एवं पुरातत्ववेता किसी सर्वसम्मत निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके हैं फिर भी वे इस बारे में एकमत हैं कि आज का मानव शरीर और मस्तिष्क के किन अभावों से मुक्त है। इस संबंध में विशेषज्ञों का मत है कि आधुनिक मानव (होमो सेपियंस), पश्चादुषोमानव (नियांदर स्थल) अथवा कपि मानव (पिथिकैंथ्रोपस) का सीधा वंशज नहीं है। हाल ही में प्राप्त चकमकी हथियारों से भी यह प्रमाणित हो चुका है कि उस युग का मानव आधुनिक मानव न होते हुए भी विकास के कई सोपान लांघ चुका था, तथापि यह स्पष्ट है कि वह एक लम्बे समय तक मनुष्य के

आदि पूर्वज के साथ सह-अस्तित्व बनाये रखने में सफल रहा होगा। हो सकता है कि मानव के आदि पूर्वज और आधुनिक मानव के बीज रक्त-सम्मिश्रण भी हुआ हो- ये दोनों जातियां पारिवारिक जीवन की ओर उन्मुख हो चली थी। हाल में प्राप्त आधुनिक कालीन खोपड़ियों के जीवाश्मों के अध्ययन से इस धारणा की पुष्टि होती है।

विकास की अवधारणायें :

मानव विकास के सन्दर्भ में प्रथम प्रश्न यह उठता है कि मानव वंश (होमिनिड), पुरुषाम कपि (एंथ्रोपाइट एप) से कब अलग हुआ? तथा कब उसमें मानव-जनित गुणों का विकास हुआ? विस्तृत शोध से यह स्पष्ट हुआ है कि प्रोकांसल, पुरुषाम कपि का आदि था अर्थात वह मानव वंश और कपि दोनों का ही पूर्वज था। इसके बाद दक्षिणी अफ्रीका का आस्ट्रेलोपिथेकस आता है। पर प्रोकांसल और इसमें लगभग 20 करोड़ वर्ष का अंतर है। इतिहास का यह अंतर अभी तक अंधकार से ही आवृत है क्योंकि अभी तक प्रोकांसल और आस्ट्रेलोपिथेकस के बीच का किसी आदि मानव का कोई जीवाश्म प्राप्त नहीं हो सका है।

आस्ट्रेलोपिथेकस की मिली अस्थियों से शोधकर्ताओं ने यह प्रमाणित किया कि उसका हाथ आधुनिक मानव की विशेषतायें पाने की दिशा में प्रगामी विकास के पथ पर काफी आगे आ चुका था परंतु फिर भी अनेक लक्षणों में वह आधुनिक हाथ से भिन्न था। मस्तिष्क तथा बाह्य संरचना में वे कपि से समानता रखते थे परन्तु दांत तथा पैर से तथा द्विपदता में मनुष्य से साम्य रखते थे। वे मानव वंश के आदि मानव थे जो मनुष्य के स्तर तक न पहुंच सके। इसी कुल में इनसे कुछ विकसित पैरांथ्रोपस के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिसके मस्तिष्क का आयतन आस्ट्रेलोपिथेकस की तुलना में 750 घन सेमी. था। यह कुल कालांतर में विलुप्त हो गया।

इन सभी तत्यों से वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल,मानव वंश की उत्पत्ति की प्राचीनतम मंजिल है। यह वह निचली कड़ी है जो मानवों को पशु जगत से जोड़ती है। अतः चतुर्थ कल्प के प्रारंभ या संभवतः तृतीय कल्प के अंत में ही अफ्रीका के पर्वतीय अर्ध-रेगिस्तानी इलाकों में मानवाम वानरों की कुछ समष्टियों का द्विपद-गमन की ओर संक्रमण प्रारंभ हुआ। पशु-जगत के उद्विकास के निर्णायक मोड़ों के क्षणों में नैसर्गिक वरण में सदा जो तीव्रता आती है, उसके फलस्वरुप यह प्रक्रिया अधिक तीव्र हुई तथा आकृति और व्यवहार में उद्विकास मूलक परिवर्तन तेजी से आये। इस प्रकार उदग्रचारिता की ओर पूर्ण और स्थायी संक्रमण हुआ।

नैरोबी के डॉ. लुई, चार करोड़ वर्ष प्राचीन वनमानुष (उरांग-उटान) और कपि मानव की खोज के लिए प्रसिद्ध हैं। पूर्वी अफ्रीका से डॉ. लुई को अठारह लाख वर्ष प्राचीन कपि मानव की खोपड़ी प्राप्त हुई। इस अवशेष के विस्तृत अध्ययन के बाद लुई ने कहा कि निश्चय ही यह उदग्रचारी तथा सोचने-विचारने वाला प्राणी रहा होगा। इसी अवशेष के समीप नौ प्रकार के चकमकी हथियार भी प्राप्त हुए थे। इन चकमकी हथियारों से यह प्रमाणित होता है कि अग्नि की उपलब्धि के बाद मनुष्य में विचार-शक्ति का क्रमशः विकास होता गया परंतु न्यू-मैक्सिको विश्वविद्यालय के सेली बिनफोर्ड ने लुई के मत का खंडन करते हुए कहा है कि अस्थि अवशेषों के समीप पाये गये हथियारों से उस युग के मानव की सभ्यता का स्तर नहीं आंका जा सकता। उनका मत है कि धरती की विशिष्ट परतों में उच्चकोटि के हथियारों का भारी मात्रा में पाया जाना इसका प्रमाण नहीं है कि उस युग की सभ्यता ऊंचे स्तर की रही होगी। इन हथियारों का प्रयोग करने वाले मनुष्य के बारे में जानने से पहले उन परिस्थितियों पर गौर करना चाहिए जिनमें इन हथियारों की आवश्यकता पड़ी होगी।

विगत वर्षों की खोज एवं शोध कार्य के कारण मानव कुल के तीन लक्षणों (उदग्रचारिता, समक्ष हाथ एवं विकसित मस्तिष्क) के बनने का क्रम दिखाना संभव हुआ है। इस सन्दर्भ में मनुष्य का सबसे प्राचीन जीवाश्म यवद्वीप मानव (जावा मानव) माना गया है। कपि मानव का जीवाश्म (कपाल, दांत और जांघ की हड्डी) डच वैज्ञानिक डूबोइन को 1891 में जावा के त्रिनील स्थान पर प्राप्त हुआ था। डूबोइन ने इसे मनुष्य और कपि के बीच की कड़ी माना था।

कपि मानव (पिथेकैथ्रोपस) के पहले कपालोर्ध्व (स्कूल कैप) की खोज से यह स्पष्ट हुआ कि मानव कुलों ने काफी जल्दी ही सीधे होकर दो, टांगों पर चलना सीख लिया था क्योंकि इस कपालोर्ध्व के साथ मिली उर्वस्थि (जांघ की हड्डी) आधुनिक मानव की उर्वस्थि से काफी समानता रखती है। इसके अतिरिक्त दक्षिणी अफ्रीका में आस्ट्रेलोपिथेकस की खोज भी स्पष्ट करती है कि कपि मानव से पूर्ववर्ती चरण में ही द्विपदता पूर्णतः विकसित हो चुकी थी। सन 1936-45 के दौरान प्रकाशित वाइडनराइख के शोध ग्रंथों ने यह निश्चित रुप से स्पष्ट कर दिया की चीन मानव प्रजाति (सिनेनथ्रोपस) कपि मानव प्रजाति (पिथेकैथ्रोपस) की तुलना में उद्विकास के अधिक ऊँचे चरण में थे। पिछले दशक में हुई, कपि मानव प्रजाति के नये अवशेषों की खोज पूरी तरह इसकी पुष्टि करती है। कपि मानव प्रजाति के ही तीन और प्राचीन मानवों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। जर्मनी में हिडलबर्ग के पास जिसे प्रागुषोमानव (हिडलबर्ग मेन) नाम दिया गया। कपाल की हड्डियों का अवशेष इंग्लैंड के स्वांसकाम्ब नामक स्थान पर प्राप्त हुआ। इस प्राचीन मानव के मस्तिष्क का आकार 1200 घन सेमी. था। हाल ही में प्राप्त यवद्वीप मानव का एक और अस्थि अवशेष के आधार पर विशेषज्ञों ने यह आम सहमति व्यक्त की है कि कपि मानव प्रजाति में, पूर्व यवद्वीप मानव प्राचीन है। उसने उत्तरोत्तर विकास करते हुए स्वांप्सकाम्ब मानव स्तर का रूप प्राप्त कर लिया।

जर्मनी के नियंदरथल गुहा से प्राप्त अवशेष से वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पश्चादुषोमानव अथवा गुहा मानव (नियंदरथल) पांच फीट लम्बे, मजबूत तथा गोरे थे। इन्हीं मानवों को विशेषज्ञों ने आधुनिक मानव का पूर्वज माना है। इसी प्रजाति के और दो मानवों के अवशेष रोड़ेशिया तथा जावा में प्राप्त हुए। संभवतः रोड़ेशिया मानव इस प्रजाति का अंतिम विकसित मानव था क्योंकि इसके बाद इस प्रजाति के अवशेष अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। पश्चादुषोमानव के पूर्णतः विलुप्त हो जाने के बाद यूरोप मे आदि मेधावी मानव (क्रो-मेगनन) आया जिनके अवशेष दक्षिणी फ्रांस से प्राप्त हुए हैं। रेडियो कार्बन विश्लेषण से इन मानवों की आयु बीस हजार वर्ष आंकी गयी है।

सारांश में वैज्ञानिकों एवं विशेषज्ञों ने मानव प्रजाति को दो समूहों में रखा। यह समूह निर्धारण, मस्तिष्क की संरचना तथा उसके अनुपात पर आधारित है। पहले समूह यानि पश्चादुषोमानव में अनेक अविकसित लक्षण बने रहे। जबकि दूसरे समूह में मेधावी मानव हुए जिनके मस्तिष्क का आधुनिक स्तर तक पूर्ण विकास अभिलाक्षणिक है। इस अंतिम जाति के प्रकट होने के काल में ही अन्य सभी लक्षणों में भी मानव शरीर की आधुनिक संरचना का गठन पूर्ण हो गया। संक्षेप में मानव कुल का वर्गीकरण तालिका से स्पष्ट होता है।

वर्गीकरण की दृष्टि से तथा पीछे दिये गये विवरणों एवं चित्र-1 से आदिम-यूथ को तीन चरणों - प्राग्यूथ, आरंभिक आदिम यूथ तथा विकसित आदिम-यूथ में बांटा जा सकता है। पहले चरण में 20 से 40 लाख वर्ष पहले के सभी मानव आ जाते हैं जो आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल में शामिल हैं। इस उपकुल के मानवों का जीवन यूथचारी पशुओं से थोड़ा भी भिन्न नहीं था। हांलाकि ये सीधे होकर चलते थे तथा सरलतम श्रम सक्रियताओं में सक्षम थे तथापि वाक् और भाषा के अभाव के कारण इनके जीवन में

तालिका -1

कुल	उपकुल	वंश	जाति
मानव	आस्ट्रेलोपिथेसिन	आस्ट्रेलोपिथेकस	—
(होमिनिड)	(40 से 20 लाख वर्ष पूर्व)	पैरांथ्रोपस	—
	होमिनिन	कपिमानव प्रजाति (पिथैकैंथ्रोपी) (20 से 2 लाख वर्ष पूर्व)	कपि-मानव (पिथेकैंथ्रोपस इरेक्टस) पेकिंग मानव (सिनेनथ्रोपस) प्रागुषोमानव (हिडलबर्ग) उत्तर-यवद्वीप मानव (लेट-जावा) स्वासकाम्ब मानव
		मानव-प्रजाति (होमो)	पश्चादुषोमानव (नियंदरथल) (2 लाख से 40 हजार वर्ष पूर्व) मेधावी-मानव (होमो-सेपियंस) (40 से 5 हजार वर्ष पूर्व)

एकरसता थी। दूसरे चरण में सभी कपि-मानव प्रजाति के सदस्य आते हैं जो लगभग 20 से 2 लाख वर्ष पूर्व का है। यहां सरलतम वाक् और भाषा प्रकट हो गयी। औजार-निर्माण एवं आखेट की विधियां और जटिल हुईं। इस चरण के सदस्य आग से परिचित हो गये थे। अंतिम चरण मेधावी मानव व पश्चादुषोमानव से जुड़ा हुआ है। यह उत्तर-पुरा पाषाण काल तक आधुनिक मानव के प्रकट होने तक चला। इस यूथ में अनेक आरंभिक वैचारिक परिघटनाओं की उत्पत्ति हुई जिसका पूर्ण मुकुलन उत्तर-पुरापाषाण काल में हुआ। आदिम समुदाय का युग मध्य और उत्तर-पुरापाषाण काल की सीमा से आरंभ हुआ और सभ्यताओं तथा पहली वर्गधारित सामाजिक ऐतिहासिक विरचना के प्रकट होने तक जारी रहा। इस युग के पहले चरण को उपभोक्ताओं के आरंभिक समुदाय का चरण कहना उपयुक्त होगा। कालक्रम की दृष्टि से यह उत्तर-पुरापाषाण और मध्य पाषाण काल का समय है। जीवन यापन विधि की दृष्टि से यह आखेटकों, खाद्य-संग्राहकों और मछली पकड़ने वालों के विनियोजी अवस्था की परिस्थितियां हैं। सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ये मुख्यतः गोत्र समुदाय हैं। दूसरे चरण को उत्पादकों के विकसित समुदाय का चरण कहा जा सकता है। यह नव-पाषाण और कांस्य काल का समय है, आरंभिक कृषकों और पशुपालकों का समाज है। यहां विकसित गोत्र समुदाय है जिनमें गोत्र मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक दोनों रूपों में पाया जाता है। आदिम समुदाय के विकास में ये दो चरण तथा आदिम-यूथ के विकास के तीन चरण- ये हैं वे पांच चरण जो सभ्यता, वर्गाधारित समाज और पहले राज्यों के गठन के पथ पर इतिहास ने तय किये।

सांस्कृतिक परम्पराओं का विकास :

मानव ने अपने शारीरिक विकास के साथ ही साथ सांस्कृतिक गतिविधियां भी धीरे-धीरे करनी प्रारंभ कर दी थी। आस्ट्रेलोपिथेसिन उपकुल के सदस्य, हालांकि द्विपद-गमन की ओर उन्मुख हो चले थे पर उनमें वाक् और भाषा का अभाव था - निश्चय ही संकेतों के माध्यम से या पशुओं के समान एक दूसरे से सम्पर्क करते रहे होंगे। वह आदिम प्राग्यूथ ऐतिहासिक युग था और पूर्वपुरापाषाण काल की आरंभिक अवस्थायें थी। धरती की परतों से मिले अवशेषों से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कपि मानव प्रजाति के सदस्य वाक्-भाषा से युक्त थे, आग का आविष्कार कर लिया था तथा पत्थर के हथियार (भले ही वह अनगढ़ रहे हों) बनाने एवं उसे उपयोग में लाने प्रारंभ कर दिये थे। विकास के ऊँचे चरण में क्रमशः पहुंचते-पहुंचते यानि मध्य-पुरापाषाण काल में सामाजिक नियमों की प्रारंभिक अवस्थायें जन्म ले चुकी थी जो आदिम समुदाय में जटिल से जटिल होती गयी।

जब एशिया महाद्वीप में कपि-मानव प्रजाति के सदस्य कर्तन हथियार संस्कृति में जी रहे थे, उसी समय अफ्रीका के कपि-मानव हस्त कुठार संस्कृति में थे। फलक हथियार संस्कृति का विकास जहां चतुर्थ हिमायन और उत्तर-हिमानी अवस्थाओं में यूरोप और एशिया में हो गया था वहीं अफ्रीका के मानव शल्कल हथियारों का उपयोग कर रहे थे।

उत्पति स्थान :

मानव धरती पर सर्वप्रथम कहां अवतरित हुआ? तथा उसका विकास एक ही केंद्र पर हुआ अथवा एक साथ कई केंद्रों पर? विभिन्न खोजों से यह स्पष्ट होता है कि आदि मानव संसार के एक विस्तृत क्षेत्र मुख्यतः यूरोप, अफ्रीका तथा मध्य एशिया में रहता होगा। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आधुनिक मानव का संसार के विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ ही आर्विभाव हुआ।

डॉ. लुई का मत है कि मानव जाति के विकास के लिए केन्या सबसे उपयुक्त जगह रहा होगा। भूमध्य रेखा के निकट होने के कारण मानवों को बर्फानी तूफानों से पूरी सुरक्षा मिली होगी। इस वातावरण में जीवन के लिए अनुकूल स्थितियों का निर्माण करना सुगम रहा होगा तथा उनमें निरंतर परिवर्तनशील

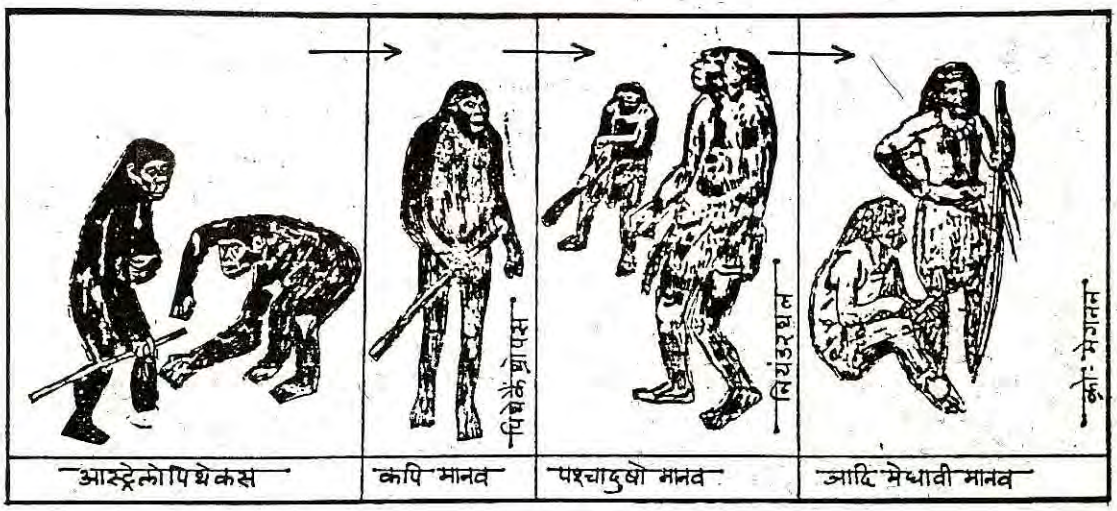

चित्र : मानव का क्रमिक विकास

जलवायु के साथ अनुकूलन की सामर्थ्य पैदा हुई होगी। टोकियो विश्वविद्यालय के नृतत्वशास्त्री हितोशी वानतावे ने आधुनिक शिकारियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर दलील देते हुए निष्कर्ष निकाला कि मानव का अर्विभाव पृथ्वी के उत्तरी हिस्से में हुआ होगा।

यह तो स्पष्ट हो चुका है कि मानव वंश का आदि-मानव वृक्षों पर चलता था, कभी जमीन पर भी उतरता था, शरीर को उदग्र स्थिति में लाने की प्रवृत्ति रखता था, कभी-कभी पिछली दो टांगों पर चलता था, तथा आकार और शक्ति में वह मध्य वानर (चिम्पांजी) जैसा था। इन तमाम लक्षणों एवं रुपों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आस्ट्रेलोपिथेकस में संक्रमण अतिनूतन (प्लाइओसीन) के अंत में या प्रति-नूतन युग (प्लाइस्टोसीन) के बिल्कुल आरंभ में हुआ था। वस्तुतः मानव जाति की उत्पत्ति उष्ण कटिबंध में तथा उससे लगे कुछ उपोष्ण इलाकों में हुई। इसका प्रमाण है नर-वानर गण (प्राइमेट्स) की आधुनिक जातियों का वहां फैला होना।

मनुष्य जाति की उत्पत्ति स्थली के बारे में हमारा ज्ञान अभी तक पूर्ण नहीं हैं। फिर भी मानव वंश लक्षणत्रयी के सबसे प्रथम लक्षण उदग्रचारिता व्यवहार का जटिलीकरण हुआ वहीं हाथ को टेक का काम करने से छुटकारा मिला। अतः उदग्राचारिता में संक्रमण किसी चट्टानी जगह पर हुआ होगा या वन से वनहीन खुले स्थान पर आने से । चट्टानी संक्रमण का व्यापक प्रतिपादन प्रसिद्ध प्राणी और जीवाश्माविज्ञानी सूश्किन ने किया था। उन्होनें इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि चलते हुए पत्थरों के कारण जगह का सावधानी से निरीक्षण करने के लिए पिछले पैरों पर खड़ा होना आवश्यक था। इसी आवश्यकता के कारण मानवों में उदग्रचारिता का लक्षण प्रकट हुआ।

सूश्किन के इन वैचारिक संभावनाओं की अनेक विशेषज्ञों ने नकार दिया। इन विशेषज्ञों का ध्यान जब अफ्रीका के जीवाश्मों की ओर आकृष्ट हुआ तो स्पष्ट हुआ कि उदग्रचारिता में संक्रमण चट्टानों पर चढ़ने का परिणाम न था अपितु मानवाम वानरों द्वारा उष्णदेशीय वनों को छोड़कर अन्य भौगोलिक अवस्थाओं में जाकर रहने का परिणाम था। उष्णदेशीय वनों को छोड़ने का मुख्य कारण खाद्य सामग्रियों की न्यूनता थी इसीलिए वे वृक्षों से नीचे भूमि पर उतरने और नये परिवेश का अभ्यस्त बनने को विवश हुए। यह नया परिवेश उष्णदेशीय विरल वन प्रदेश अथवा उष्णदेशीय सवाना प्रदेश था।

भू-वैज्ञानिक शोधों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि चतुर्थ महाकल्प के आरंभिक भाग में दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका बीच-बीच में चट्टानी शिखरों से युक्त था। भारत की शिवालिक पहाड़ियों में भी ऐसा ही दृश्य था। वस्तुतः उस काल में केंद्रीय एशिया और पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीका की भौगोलिक विशेषतायें समान थी। अतः चट्टानी शिखरों से युक्त पहाड़ियां, खुले मैदान, शुष्क उष्ण जलवायु, विभिन्न वनस्पतियां एवं प्राणि-जगत यह वह दृश्य भूमि थी जहां मानव के आद्य रुप का मानवीकरण हुआ अर्थात वह उदग्रचारी बना तथा उसके हाथ मुक्त हुए।

❑ ❑ ❑

- मानव त्वचा के किसी एक डाक टिकट के बराबर अंश में लगभग 3000000 कोशिकाएँ होती हैं। इस के अन्दर स्थित रक्त वाहिनियों की संयुक्त लंबाई 90 सेमी., तंत्रिका तंतुओं की समेकित लंबाई 3.6 मीटर के आसपास, होती हैं। इसमें लगभग 100 स्वेद ग्रंथियां, 15 तेल ग्रंथियां एवं 25 तंत्रिकान्त भी होते हैं।
- मानव हृदय प्रत्येक दो स्पंदनो के बीच 1/6 सेकेंड के लिए विश्राम करता है इस प्रकार अपने संपूर्ण जीवन काल के 1/6 भाग वह कार्य नहीं करता हैं।
- मानव नेत्र की संवेदनशीलता इतनी सूक्ष्मग्रही होती है कि अंधेरी रात में भी वह किसी पहाड़ की चोटी पर खड़े होकर 50 मील तक की दूरी पर दियासलाई की तीली जलते हुए देख सकता है।

कु. पूजा तिवारी

जरण जटिलताएं - एक वैज्ञानिक अवलोकन

शील शर्मा, प्रवक्ता
जीव रसायन आहार एवं पोषण विभाग
गृह विज्ञान संकाय
वनस्थली विद्यापीठ (राज.)-304 022

आम व्यक्ति के लिए जरण यानी बुढ़ापे का संबंध सीधे आयु से जोड़ा जाता है। परंतु एक खोज बीनी निगाह इसे प्राणी की आकृति एवं कार्य करने की क्षमता से आंकती है। बूढ़ा होना क्या है? बुढ़ापा क्यों आता है? क्या इसे आने से रोका जा सकता है? क्या विज्ञान इन प्रश्नों का उत्तर खोज पाया है? इन रोचक प्रश्नों के उत्तर इस लेख में देने का प्रयास किया गया है!

जरण ऐसी जैविक प्रक्रिया है जो मानवों एवं अन्य प्राणियों में रोगी होने की संवेदनशीलता बढ़ाती है क्योंकि इनमें, जरण के फलस्वरुप, सामान्य वातावरण के प्रति अनुकूलन क्षमता का शनैः शनैः अभाव होता जाता है। एक सहज व्यक्ति 'जरण' (Aging) का अर्थ आयु वृद्धि लगाता है। परन्तु एक खोज बीनी निगाह किसी व्यक्ति की काल जीर्णता उसकी आकृति एवं कार्य क्षमता के परिणाम से आंकती है न कि उसकी आयु से। ऐसे बहुत से उदाहरण देखने को मिलते हैं जब एक 60 वर्षीय व्यक्ति अपने से 15-20 वर्ष कम आयु के व्यक्ति से अधिक जीवन्त एवं कार्यसक्षम होता है। अतः जरण प्रक्रिया किसी व्यक्ति में आयु के साथ होने वाली 'शारीरिक क्रियाओं को करने की क्षमता' में कमी या ह्रास में प्रतिबिम्बित होती है। जरण मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों की विशिष्टता एवं विवशता है। वैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन काल की चार अवस्थाएं हैं : शैशव, वर्धन, परिपक्वन एवं प्रौढ़ावस्था-वृद्धावस्था। शैशव से प्रारम्भ हुई वृद्धि की प्रक्रिया वर्धन की उस अवस्था तक काफी तेज़ होती है जब तक मनुष्य जननीय परिपक्वता (13-15 की आयु) नहीं प्राप्त कर लेता। वृद्धि तो तदोपरान्त भी जारी रहती है। यद्यपि उसकी गति कुछ धीमी पड़ जाती है। परिपक्वन अवस्था का आगमन मनुष्य की वृद्धि की परिपूर्णता का संकेत होता है। यह जीवन की वह अवस्था है जिसमें शरीर के सब अंग तंत्रों की कार्यक्षमता अपने चरमोत्कर्ष पर होती है। यह अवस्था 20-25 वर्ष की आयु में आती है। परिपक्वता के उपरान्त प्रौढ़ता-वृद्धावस्था आती है जिसमें जरण प्रक्रिया के प्रभावाधीन हो मनुष्य कालजीर्ण होता जाता है। सठियाव, बुढ़ापा आदि इसी अवस्था के पर्यायवायी शब्द हैं। मनुष्य के जीवन काल की तुलना हम किसी ऐसे पत्थर की पथ यात्रा से कर सकते हैं जो पृथ्वी से आकाश की ओर न्यूनकोण बनाता हुआ प्रक्षेपित किया जाता है। प्रारम्भ में पत्थर तेज गति से ऊपर जाता है फिर उसकी गति कम होने लगती है तथा एक बिन्दु पर पहुंचने के उपरान्त इसका अवतरण आरम्भ हो जाता हैं। पत्थर के प्रक्षेप पथ के उच्चतम बिन्दु से मनुष्य की परिपक्वन अवस्था की तुलना की जा सकती है एवं उसके निम्नगामी पथ से मनुष्य के कालजीर्ण होने की।

प्रत्येक प्राणी जाति की एक अधिकतम आयु अवधि होती है। जैसे मनुष्य, हाथी और चूहे की अधिकतम आयु अवधि क्रमशः 100, 70 एवं 3 वर्ष होती है। दूसरी ओर औसत आयु अवधि मनुष्य के रहन सहन, खान-पान, स्वास्थ्य सुविधाओं, पर्यावरण आदि कई बातों पर निर्भर करती है। विकसित देशों में औसत आयु 50 वर्ष से बढकर 70 वर्ष हो गई है। तथा विकासशील देशों में भी औसत आयु में

बढ़ोत्तरी हो रही है। इस शताब्दी के आरम्भ में भारत में 25 व्यक्तियों में से केवल 1 व्यक्ति ही 65 वर्ष से अधिक आयु का होता था। परन्तु औसत आयु में वृद्धि होने के कारण अगली शताब्दी के आरम्भ होने तक 25 व्यक्तियों में से 5 व्यक्ति 65 वर्ष की आयु पार कर सकेंगे। वृद्ध व्यक्तियों की जनसंख्या में बढ़ोत्तरी होने के कारण 'जरण' एवं वृद्धावस्था के अध्ययन से संबंधित 'जरा विज्ञान' का महत्व बहुत बढ़ गया है। जरा वैज्ञानिकों ने जरण तथा वृद्धावस्था से संबंधित तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रों की पहचान की है। प्रथम क्षेत्र में जीव रासायनिक, आणविक एवं शारीरिक क्रिया विज्ञान के स्तरों पर अध्ययन अनुसंधान कर जरण प्रक्रिया के कारणों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है ताकि इस की शुरूआत को विलम्बित किया जा सके। दूसरा क्षेत्र आर्युविज्ञान से सम्बन्धित है जिसमें वृद्धावस्था में होने वाली बीमारियों के निदान-उपचार की व्यवस्था की जाती है। इसे जरा रोग विज्ञान भी कहते हैं। तीसरे क्षेत्र में वृद्ध सेवा विमुक्त लोगों की सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के अध्ययन, उनके प्रतिकार तथा वृद्धों के कल्याण व पुनर्वास के प्रयत्न किए जाते हैं।

जहां तक 'जरण' प्रक्रिया के कारणों को जानने की बात है, उसमें तो यह अब स्पष्ट हो ही गया है कि परिपक्वन के उपरान्त शरीर के अंग-तंत्रों की कार्यक्षमता का अपकर्ष आरम्भ हो जाता है जिसे 'जरण' की संज्ञा दी है। जरण प्रक्रिया की यह विशिष्टता है कि इसकी गति विभिन्न मनुष्यों में अलग अलग होती है। यही नहीं किसी एक व्यक्ति के विभिन्न अंगों की कार्य क्षमता का ह्रास भी भिन्न भिन्न गतियों से होता है! उदाहरणतः श्वास तंत्र या फुफ्फसों की कार्यक्षमता का अपकर्ष सबसे शीघ्र होता है। जरण से अंग क्षमता में कमी इसलिए होती है कि अंग-प्रत्यंग बनाने वाली कोशिकाएं अपनी कार्यकुशलता तथा क्षतिग्रस्त कोशिका संघटकों के पुनर्स्थापन की क्षमता खोने लगती हैं। इसीलिए विभिन्न अंग तंत्रों में कई परिवर्तन आते हैं। फुफ्फुसों एवं हृदय की फैलने सिकुड़ने की क्षमता कम होती जाती है रुधिर वाहिनियों का लचीलापन घटता जाता है एवं कठोर होती जाती हैं। अस्थिबन्ध एवं नसें ढ़ीली पड़ जाती हैं। वृद्धावस्था में बहुधा मोतिया बिन्दु हृदय रोग एवं कैंसर जैसे रोगों के पनपने के अवसर कहीं अधिक होते हैं। मृत्यु शरीर के किसी एक या एक से अधिक प्राणाधार अवयवों की कार्यक्षमता बिलकुल नष्ट हो जाने पर होती है।

जरण प्रक्रिया को और अधिक जानने समझने के लिए यदि हम जीवनकाल के प्रारम्भ से ही शुरू करें तो श्रेयस्कर होगा। एक नए जीवन की नींव शुक्राणु द्वारा डिम्ब का निषेचन कर युग्मज कोशिका बनने के साथ रखी जाती है। इस कोशिका के बारम्बार विभाजन द्वारा अलग अलग कोशिका अनुक्रम बन जाते हैं। प्रत्येक कोशिका अनुक्रम विभाजन द्वारा गुणित हो एक अंग बनाता है। इस प्रक्रिया को विभेदन कहते हैं तथा मनुष्यों में यह माता के गर्भ में परिपूर्ण हो जाती है। कोशिका विभाजन की प्रक्रिया जन्म के बाद भी चलती रहती है तथा इसके फलस्वरूप होने वाली अंग अवयवों की बढ़ोत्तरी को वृद्धि (वर्धन) कहा जाता है। इस वृद्धि काल की किसी अवस्था पर पहुंचने के उपरान्त कुछ कोशिका श्रेणियां विभाजन कर अपनी संख्या बढ़ाना बन्द कर देती हैं। ऐसी कोशिकाओं को विभाजनोत्तर कोशिकाएं कहा जाता है। स्नायुमंडल, हृदय एवं अस्थिपेशियों की कोशिकाएं इसी प्रकार की होती है। अन्य कोशिका श्रेणियां, जो आजीवन विभाजित होती रहती हैं विभाजनोगत कोशिकाएं कहलाती हैं। अस्थि-मज्जा उपकला आदि की कोशिकाएं विभाजनोग्र श्रेणी में आती हैं। यद्यपि विभाजनोत्तर कोशिकाएं संख्या में इतनी होती हैं कि इनके द्वारा संरचित अंग-अवयव जीवन पर्यन्त कार्य सक्षम रहते हैं परन्तु फिर भी यह वास्तविकता तो रहती ही हैं कि समय के साथ होने वाली टूट फूट अथवा किसी अन्य कारणवश नष्ट हुई कोशिकाओं की क्षतिपूर्ति या पुनर्स्थापन नहीं हो पाता।

ऐसा सोचना भी सही लगता है कि जरण प्रक्रिया विभाजनोत्तर को कोशिकाओं द्वारा निर्मित अंगों की कार्यक्षमता को अधिक प्रभावित करती होगी। इसकी तुलना में विभाजनोग्र कोशिकाएं जो ऊतक अंग बनाती हैं उन पर जरण का प्रभाव कम होगा क्योंकि नष्ट होने वाली कोशिकाओं की क्षति पूर्ति कोशिका विभाजन द्वारा हो सकती है।

जरा वैज्ञानिकों ने विभिन्न अंगों की संरचना और कार्यक्षमता पर जरण के प्रभाव का भी अध्ययन किया है। जैसे विभिन्न आयु के व्यक्तियों के मास्तिष्क का सी. टी. क्रमवीक्षण करने पर यह पता चला है कि जरण के साथ मस्तिष्क सिकुड़ता है। विशेष कर 65 वर्ष की आयु के बाद यह प्रभाव सुस्पष्ट देखा जाता हैं। क्योंकि मस्तिष्क या केन्द्रीय स्नायुतन्त्र को बनाने वाली कोशिकाएं विभाजनोत्तर श्रेणी में आती हैं। अतः जरण मस्तिष्क या केन्दीय स्नायु तन्त्र की कार्य क्षमता को अनिवार्य ढ़ंग से प्रभावित करता है। यहां यह बताना भी उचित होगा कि मानव मस्तिष्क शरीर के कई अति महत्वपूर्ण कार्यों का नियन्त्रण करता है। इन्हीं कार्यो में से एक महत्वपूर्ण कार्य शरीर के आन्तरिक वातावरण का अनुकरण करना भी है। इसलिए मस्तिष्क पर जरण का एक प्रभाव यह भी है कि उस की आन्तरिक वातावरण का अनुरक्षण करने की क्षमता कम हो जाती है। इसमें संवेदन प्रेषण की गति कम होना तथा अन्तःस्राव क्षमता का कम होना भी सम्मिलित है। यही कारण है कि वृद्धावस्था में शरीर के तापमान को सामान्य रखने अथवा रुधिर शर्करा का स्तर सामान्य रखने सहित कई ऐसे कारकों के नियमन में कठिनाई होती है जो शरीर के आन्तरिक वातावरण को बनाए रखते हैं। मस्तिष्क की कार्य क्षमता के बारे में एक और बात जो देखने को मिलती है वह यह है कि जरण का बौद्धिक क्षमता पर होने वाला प्रभाव कम होता है एवं बहुत से व्यक्तियों में तो 65-70 वर्ष की आयु तक यह न के बराबर होता है। सम्भवतः बौद्धिक क्षमता की आणविक स्तर पर जानकारी होने पर ही जरण द्वारा इसको कम प्रभावित करने की बात समझ आ सकती है।

इसी प्रकार शरीर का प्रतिरक्षा तंत्र भी जरण के साथ क्षीण होता है। बाल्यग्रन्थि जो कि प्रतिरक्षा प्रणाली की टी कोशिकाओं की जन्मदायी है तथा शरीर के रोग प्रतिकारक सैनिकों अथवा एन्टीबॉडीज का नियमन-नियन्त्रण करती है, जरण के प्रभाव से कार्य सामर्थ्य में क्षीण हो जाती हैं। इसीलिए वृद्धावस्था में एक तरफ तो संक्रामक रोगों का आतंक बढ़ जाता है तो दूसरी ओर स्वप्रतिरक्षा रोग भी भयभीत किए रहते हैं।

शरीर में जरण प्रक्रिया के फलस्वरूप होने वाले अन्य परिवर्तनों में सक्रिय चयापचयी कोशिकाओं (पेशी कोशिकाओं सहित) या शारीरिक कोशिका संहति में कमी होना, अस्थि संहति में कमी होना तथा शारीरिक वसा में वृद्धि होना शामिल हैं। यह परिवर्तन व्यक्ति से उसकी सक्रियता एवं जीवन्तता छीन कर उसे काल जीर्ण बना देते हैं। उदाहरण के लिए किसी वृद्ध व्यक्ति की लम्बी दौड़ लगाने की क्षमता क्षीण हो जाती है क्योंकि ऐसे प्रयास में मांस पेशियों, स्वस्न तंत्र एवं हृदय की कार्यक्षमताओं का उपयोग होता है जिनमें से कोई सी भी जरण के प्रभाव से मुक्त नही रह सकती।

इसी तरह शरीर की कई प्रोटीनों की संरचनाओं में भी जरण जायी महत्वपूर्ण परिवर्तन, प्रोटीन अणुओं में सहसंयोजक तिर्यक बन्ध स्थापित होने के कारण, हो जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि आयु वृद्धि के साथ शरीर में शर्करा अथवा किन्हीं अन्य कार्बनिक या अकार्बनिक पदार्थों की वृद्धि होने से ही यह परिवर्तन आते हैं। परिणाम स्वरूप उन प्रोटीनों द्वारा रचित ऊतकों-अंगों की कार्य-क्षमता कम हो जाती है। जैसे संयोजी ऊतक प्रोटीन 'कॉलेजन में' जो कि शरीर की कुल प्रोटीन का एक तिहाई हिस्सा होती है, सह संयोजक तिर्यक बन्ध बन जाने से सुस्पष्ट परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनों से 'कॉलेजन' की घुलनशीलता,

लचीलापन आदि कम होजाते हैं। यही कारण है कि त्वचा और चेहरे में झुर्रियां पड़ जाती हैं। यह रूपान्तरित कालजीर्ण कॉलेजन-त्वचा एवं अस्थि ऊतकों में कोशिकाओं के बाहर के स्थानों पर जमा हो जाती है एवं इन कोशिकाओं के भरण पोषण, यहां तक कि अस्तित्व में भी, बाधक बन जाती है। यही कारण है कि त्वचा और हड्डियों की टूट फूट होना वृद्धावस्था के प्रमाण चिन्ह बन जाते हैं।

यहां एक और भेद खोलना भी जरण की जटिलताओं की प्रशस्ति से कम नहीं होगा कि जरा विज्ञान तत्वाधान में हो रहे बृहत् अध्ययन अनुसंधान के माध्यम से यह सब जान लेने के उपरान्त भी हम आधारभूत प्रश्न - जरण क्यों होता है? का उत्तर नहीं खोज पायें हैं। परिपक्वनोंपरांत प्राणी कोशिकाएं काल जीर्ण क्यों होने लगती हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में जरा-शास्त्री केवल यही संकेत दे सके हैं कि जरण की उत्पत्ति का कारण आनुवांशिक स्तर पर ही ढूंढा जा सकता है क्योंकि गुण सूत्रों में उपस्थित नाभिक अम्ल, डी.एन.ए. ही वह उत्कृष्ट वास्तुकार है जिसकी संरचनाओं में जीवन के परिरूप निहित हैं। यद्यपि इस कथन की वैधता अभी निश्चित नहीं हो पाई है फिर भी सभी प्रयोग, अध्ययन व अवलोकन यही इंगित करते हैं कि जरण प्रक्रिया की गति एवं सीमा आनुवांशिक कारकों द्वारा निर्धारित की जाती है एवं इस प्रक्रिया को तीव्र या मन्द करने में आन्तरिक (शारिरिक) तथा बाह्य वातावरण के कारक भी भूमिका निभाते हैं।

चूंकि जरण के आनुवांशिक कारणों की पहचान अभी तक नहीं हो पाई है अतः उन्हें नियन्त्रित करके बुढ़ापे के आने को विलम्बित करने एवं उसकी तीव्रता कम करने की कल्पना अभी तक यथार्थ नहीं बन सकी है। परन्तु जहां तक बाह्य कारण को नियन्त्रित करने का प्रश्न है, उस दिशा में प्रयास कर के हम जरण प्रक्रिया के प्रभावों को अपेक्षाकृत कम करने में सफल हुए हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है आहार एवं पोषण का नियमन-नियोजन। जब वृद्धावस्था में 'शारीरिक कोशिका संहति' कम हो जाती है तो कमी के अनुपात में हमें ऊर्जा आपूर्ति में भी कमी करनी चाहिए। अन्यथा अधिक ऊर्जाजनक भोज्य पदार्थ खाने पर शारीरिक वसा बढ़ती है जो मोटापे के लक्षण हैं। दूसरी ओर प्रोटीन, विटामिन एवं खनिज लवणों की आवश्यकता शरीर में होने वाली टूट फूट की क्षति पूर्ति के लिए तथा मनोमस्तिष्क की क्षमता बनाए रखने के लिए बराबर बनी रहती है अतः इन अवयवों की भोजन में कमी करना श्रेयस्कर नहीं है। साथ ही किसी सुयोग्य भौतिक चिकित्सा या योग क्रिया विशेषज्ञ द्वारा व्यक्ति की आयु एवं शारीरिक क्षमता के अनुरूप सुझाया हुआ व्यायाम, योग का नियमित कार्यक्रम भी जरण प्रक्रिया को मन्द करने में प्रभावी सिद्ध होगा।

इसी तरह एक अन्य महत्वपूर्ण कर्तव्य समाज की युवा पीढ़ी का है कि वह वरिष्ठ कालजीर्ण पीढ़ी के उत्कर्ष जीवन के लिए सुविधाएं उपलब्ध करायें। तभी तो वरिष्ठ पीढ़ी का वह ऋण, जो हमें जीवन प्राप्ति से मिला है, कुछ अंश तक चुकाया जा सकेगा।

❑ ❑ ❑

- हंसते समय मानव शरीर की 17 मांसपेशियां क्रियाशील होती हैं और क्रोध के समय 43 मांसपेशी काम करती हैं।
- मानव मस्तिष्क एक झिल्ली से आवृत्त रहता हैं। इसमें रक्त प्रवाह तथा संवेदनाग्राही तंत्रिका तंतु भी होते हैं परन्तु स्वयं मस्तिष्क सर्वथा संवेदनाग्राही तंतुओं से हीन होता हैं।
- वयस्क मानव शरीर में लगभग 650 मांसपेशी, 100 से अधिक अस्थि जोड़, 100000 किमी. समेकित लंबाई की रक्त वाहनियां तथा लगभग 1अरब 30 करोड़ तंत्रिका कोष होते हैं। कुल 206 अस्थियों में से लगभग आधी केवल हाथों एवं पैरों में ही होती हैं।

कु. पूजा तिवारी

नृवनस्पति विज्ञान - एक संक्षिप्त परिचय

डॉ. बृजलाल बिजल्वाण
पादप वर्गीकी एवं पादपालय विभाग,
राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्थान,
राणा प्रताप मार्ग, लखनऊ-226 001

बहुत से पौधों के उपयोग संबंधी महत्वपूर्ण जानकारी ग्रामीणों और जंगलों के आसपास रहनेवाले लोगों को प्राचीन काल से रहती आई हैं। ये ज्ञान मौखिक रूप से अगली पीढ़ी को मिलता रहा हैं। लेकिन व्यवस्थित संकलन और लेखन के अभाव में इस ज्ञान का विस्तृत लाभकारी उपयोग एक संभावना तक ही सीमित रह गया। छिपे हुए इस अपार ज्ञान भंडार को उजागर करने के लिए वनस्पति विज्ञान की एक नई विधा का परिचय इस लेख में प्रस्तुत है।

मनुष्य का उसके चारों ओर की वनस्पतियों से सदैव एक अटूट सम्बन्ध रहा है। यह सम्बन्ध कोई 10-20 वर्ष पुराना नहीं है, बल्कि सदियों पुराना है। जैसे ही मानव इस धरा पर अवतरित हुआ, वैसे ही उसने अपनी आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु अपने आस-पास के प्राकृतिक संसाधनों, विशेषकर भिन्न-भिन्न प्रकार की वनस्पतियों को खोजना/टटोलना एवं उपयोग में लाना प्रारम्भ किया। इस तरह वह कुछ गलतियों से तो कुछ परीक्षणों से पौधों के आर्थिक महत्व को स्थापित करने में सफल हुआ। जिन 20-30 वनस्पति प्रजातियों जैसे- गेहूँ, चावल, दाल, कपास आदि पर आज सारा संसार अपनी आवश्यकताओं के लिए पूर्णतः निर्भर है, यह भी हमारे ही पूर्वजों/आदिमानव की ही देन है। विकास के साथ-साथ इन वनस्पतियों के इस्तेमाल करने के तौर-तरीकों में सुधार होता गया और आज एक ही पौधे को भी तरह-तरह से उपयोग में लाया जाने लगा है। कुछ पौधे तो इतने महत्वपूर्ण सिद्ध हुए कि उन पर कई उद्योग-धन्धे निर्भर करते हैं। पौधों के उपयोग सम्बन्धी महत्वपूर्ण ज्ञान मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहा है। शिक्षा के अभाव के कारण बहुत सारी जानकारी लिखित रूप से संचित नहीं हो पायी, जिसके कारण बहुत सारे ज्ञान को प्राप्त करने से हम या तो वंचित रह गये या यह हमारे ग्रामीण/आदिवासी समाज तक ही सीमित रह गया। पौधों के बारे में छिपे हुए ऐसे महत्वपूर्ण ज्ञान को उजागर करने हेतु विदेशों में इस दिशा में काफी गहन शोध कार्य चल रहे हैं। इसने आज एक नये विषय को जन्म दिया हैं जिसे इथ्नोबॉटनी यानि नृवनस्पति विज्ञान कहते हैं।

इथ्नोबॉटनी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1935 में अमरीकी वैज्ञानिक जॉन बिलिय महार्शबर्गर ने आदिमानव/आदिवासियों द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले पौधों से सम्बन्धित अध्ययन के लिए किया। हिन्दी में इथ्नोबॉटनी शब्द के कई पर्याय इस्तेमाल होने लगे हैं। जैसे नृवनस्पति विज्ञान, आदि मानव वनस्पति, आदिम वनस्पति, लोक वनस्पति विज्ञान आदि। इस विषय को समय-समय पर विभिन्न वनस्पति शास्त्रियों ने अलग-अलग रूप से परिभाषित किया। विश्वविख्यात नृवनस्पति प्रो. रिचर्डस इवान शुल्टीज के अनुसार आदिवासी/जंगली समाज एवं उसके चारों ओर के वनस्पति पर्यावरण के बीच स्थित पारस्परिक सम्बन्ध से सम्बन्धित अध्ययन को ईथ्नोबॉटनी या नृवनस्पति विज्ञान कहते है। यानि कि नृवनस्पति विज्ञान वनस्पति शास्त्र की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत हम ऐसे पेड़ पौधों का अध्ययन करते हैं, जिनकी जानकारी केवल हमारे पिछड़े समाज विशेषकर आदिवासी समाज तक सीमित है।

आज यह विषय मात्र अपने तक ही सीमित न रह करके एक बहुआयामी विषय बन गया है। इसके अन्तर्गत मानव जीवन में वनस्पतियों के सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक आदि महत्वों का अध्ययन किया जाता है। यह न केवल वनस्पति विज्ञान के सम्बद्ध हैं बल्कि इसमें अन्य विषयों जैसे- भाषा, इतिहास, संस्कृति, समाज शास्त्र, मानव विज्ञान, एवं अन्य पौराणिक साहित्यों का भी समावेश है।

विदेशों में विशेषकर अमेरिका में इस विषय पर एक शताब्दी से भी पूर्व अध्ययन हो रहा है। जिन वैज्ञानिकों का इस विषय को लोकप्रिय बनाने में विशेष योगदान रहा है, इनमें प्रमुख है, पावर, गिल्मोरे, हार्शबर्गर, शुल्टीज, फोर्ड, ड्युक, प्रान्स, गुन्थर, आदि।

हमारे देश में इथ्नोबॉटनी का इतिहास करीबन तीन-चार दशक पुराना है। भारत में इस विषय की नींव जानी-मानी वनस्पति शास्त्री स्व. जानकी अम्माल ने डाली और इस विषय को लोगों में, विशेषकर वनस्पति शास्त्रियों में लोकप्रिय बनाया, एक जाने-माने नृवनस्पतिज्ञ एवं भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण के पूर्व निदेशक डॉ. सुधांशु कुमार जैन ने। इन्होनें मध्य भारत के आदिवासियों के साथ जंगलों में रह कर शोध कार्य किया तथा इस विषय पर महत्वपूर्ण शोधपत्र/लेख छापकर लोगों का इस क्षेत्र की ओर ध्यान आकर्षित किया। आज नृवनस्पति विज्ञान ने हमारे ही देश में इतना विशाल रूप धारण कर लिया है कि देश के कोने-कोने में सैकड़ों वैज्ञानिक, शिक्षक एवं शोध छात्र इस दिशा में कार्य कर रहे हैं। भारतवर्ष में इस विषय को महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय बनाने में जिन लोगों का मुख्य योगदान रहा उनमें प्रमुख हैं एस.एन.बाल, पी.ओ.बोडिंग, प्रो. मजूमदार, डा. सुधांशु कुमार जैन, डा. जय किशन माहेश्वरी, डा. निरंजन वधद्र शाह, डा. राघवेन्द्र रामाचन्द्रन राव, डा. प्रभात कुमार हाजारा, डा. कृष्ण कुमार सिंह, डा. प्रभाकर जोशी, प्रो. के. एस. मणिलाल. प्रो.आर.डी. गौड़ आदि।

कभी कभी लोग इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि आर्थिक एवं नृवनस्पति विज्ञान में क्या अंतर है तथा अक्सर नृवनस्पति विज्ञान को ही आर्थिक वनस्पति शास्त्र का पर्यायवयी समझते हैं। वस्तुतः दोनों अलग-अलग विषय हैं। जहां तक आर्थिक वनस्पति विज्ञान का प्रश्न है, इसके अन्तर्गत हम पौधों के इन उत्पादकों का अध्ययन करते हैं जिनकी पुष्टि पहले ही हो चुकी होती है, तथा जिन पर व्यापार, उद्योग धन्धे निर्भर करते हैं जब कि नृवनस्पति विज्ञान के अन्तर्गत हम प्रायः पौधों के उन उपयोगों का अध्ययन करते हैं जिनकी जानकारी केवल ग्रामीण/आदिवासी आर जंगली लोगों तक ही सीमित रहती है, और आम आदमी जिससे बिल्कुल ही अनभिज्ञ है।

नृवनस्पति विज्ञान के बढ़ते हुए महत्व को देखकर वन एवं पर्यावरण मन्त्रालय, भारत सरकार ने 1982 में एक विशाल परियोजना, ''अखिल भारतीय नृजीव-विज्ञान समन्वय अनुसंधान परियोजना'' को देश के विभिन्न केन्द्रों जैसे राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्थान, लखनऊ, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण के कई क्षेत्रीय कार्यालयों में लागू किया है। उपर्युक्त केन्द्रों पर आज इस विषय पर गहन अध्ययन हो रहा है। विषय को लोकप्रिय बनाने एवं नये आयाम देने हेतु देश विदेशों में कई सभाएं, प्रशिक्षण एवं वैज्ञानिक संगोष्ठियां आयोजित की गयीं है। बहुत से महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों ने इसे एक विषय विशेष के रूप में मान्यता प्रदान की है ताकि विद्यार्थीगण भी इस विषय के महत्व को समझ सकें। देश की महान संस्थाएं जैसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, केन्द्रीय औद्योगिक एवं अनुसंधान परिषद, विज्ञान एवं तकनीकी विभाग,वन मन्त्रालय भारत सरकार, आदि संस्थाओं द्वारा इस विषय में शोध कार्य हेतु हर वर्ष कई छात्रों को छात्रवृत्तियां प्रदान की जाती हैं।

इस विषय का अध्ययन मुख्य रूप से चार प्रकार से किया जाता है, जैसै :—

(अ) किसी क्षेत्र विशेष/भौगोलिक इकाई का सर्वेक्षण एवं अध्ययन।

(ब) पादपालयों एवं संग्राहलयों में स्थित पौधों का अध्ययन।

(स) प्राचीन दुर्लभ एवं अप्रकाशित साहित्य का अध्ययन, और

(द) पुरातत्व स्थानों एवं प्राचीन ऐतिहासिक मंदिर, मस्जिद, किले आदि का नृवनस्पतिक दृष्टि से अध्ययन।

उपर्युक्त दिये गये तरीकों में से किसी क्षेत्र विशेष यानि भौगोलिक इकाई का सर्वेक्षण/अध्ययन इस विषय के लिए सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि इस तरह के अध्ययन से हमें नृवनस्पति विज्ञान के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त हो सकती है। इस विधि के अन्तर्गत भी हम आगे चल कर अन्य कई पहलुओं पर अध्ययन कर सकते हैं, जैसेः—

1. किसी क्षेत्र/स्थान विशेष का नृवनस्पतिक अध्ययन इसके अन्तर्गत हम एक गांव से लेकर एक उप महाद्वीप तक को भौगोलिक इकाई मानकर अध्ययन कर सकते हैं।
2. किसी जाति विशेष यानि मुख्य रूप से आदिम जाति/समाज का इथ्नोबॉटनिक अध्ययन।
3. किसी पौधे या वनस्पतिक कुल विशेष का अध्ययन, और
4. पौधों की उपयोगिता के आधार पर नृवनस्पतिक अध्ययन जैसे— खाद्य औषधीय एवं धार्मिक कार्यों में उपयोगी पौधे या किसी रोग विशेष में इस्तेमाल किये जाने वाले पौधों का अध्ययन।

नृवनस्पतिक अध्ययन से हमें पौधों के बारे में बहुत सारी जानकारियाँ प्राप्त होती है, जिनसे कि एक आम आदमी अनभिज्ञ होता है। आदिवासी/ग्रामीण लोग अपने आस-पास की वनस्पतियों को भिन्न-भिन्न रूप से इस्तेमाल करते है, जैसे— खाद्य औषधि, चारा, शराब बनाने, जादू टोना, पूजापाठ, मछली मारने व शिकार करने आदि में। यदि इस दिशा में गहन अध्ययन किया जाये तो निश्चय ही कुछ ठोस परिणाम मिल सकते हैं। देश की कई प्रयोगशालाओं में आदिवासियों से प्राप्त जानकारी के आधार पर कई पौधों के रासायनिक एवं औषधीय परीक्षण किये गये जिसके फलस्वरूप बहुत से पौधे काफी उपयोगी सिद्ध हुए। ऐसे पौधे जो रासायनिक एवं औषधीय परीक्षणों के तहत खरे उतरे हैं उनमें मुख्य हैं, आंवला, (अम्बिलका ऑफीसिनेलिस) हर्रा (टर्मिनेलिया चिबुला), बेहड़ा (टर्मिनेलिया बेलिरिका), हल्दी (एडिना कार्डिफोलिया) बनमबली (यूफॉर्बिया फ्यॅजिफार्मिल) कालमेध (एण्ड्रोगाफिस पेनिकुलाटा), दारू हाल्द (किलोमोड बरबेरिस), किन्स (डायोस्कोरिया डेल्टुयोडिया) तथा गुगल (कोमिफोरा मुकुल) आदि। इन सब पौधों के बारे में जानकारी मिलना भी हमारे ही पूर्वजों की देन है। इस विषय में हमें जो एक और महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है वह है पौधों का संरक्षण। आदिवासी लोग धार्मिक एवं अन्धविश्वास के कारण कुछ ऐसे पौधों का संरक्षण करते हैं जो प्रायः दुर्लभ हो गये हैं, या विलुप्तता के कगार पर है। इस प्रकार से पौधों की संरक्षण सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना पर्यावरण सुरक्षा की दृष्टि से भी काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। जहां एक तरफ देश की जनसंख्या भी प्रतिदिन लगातार बढ़ती जा रही है, वहीं दूसरी ओर हमारे खाद्य संसाधन भी सीमित होते जा रहे हैं। इस समस्या के समाधान के लिए निश्चित रूप से कुछ न कुछ नये स्रोत ढूंढने होंगे। इस दिशा में नृवनस्पति विज्ञान एक अहम भूमिका निभा सकती है क्योंकि इस विषय के अध्ययन से हमें कुछ ऐसे बहुउपयोगी जंगली पेड़-पौधों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिल सकती है जिनका उपयोग दूरदराज में रहने वाले, ग्रामीण व आदिवासी लोग अपनी भूख को शान्त करने के लिए करते हैं।

❑ ❑ ❑

मधुमेह – कारण और निवारण

कु. पूजा तिवारी
द्वारा राम प्रताप तिवारी
भारतीय लाख अनुसंधान संस्थान
नामकुम - रांची 834 010.

महिलाओं एवं पुरुषों में समान रूप से व्याप्त मधुमेह (शक्कर की बिमारी) के लिए आयु की कोई निर्धारित सीमा नही है हालांकि अधिकांश रोगी 40 वर्ष से अधिक आयु के देखे गए हैं। इसके लक्षण व कारण क्या हैं? इन्सुलिन इसके इलाज में कितनी सफल है? आदि ऐसे मुद्दे हैं जिन पर निरंतर शोध चल रहे हैं। अद्यतन शोध के आधार पर यह कहना कि आण्विक जीव विज्ञान, वंशानुगतता एवं जेनेटिक इंजीनियरी की सहायता से इस रोग पर नियंत्रण पाना असंभव नहीं है, अतिशयोक्ति नहीं होगी।

मधुमेह रोग का उल्लेख लगभग 25000 वर्ष पुराने आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ "सुश्रुत संहिता" एवं "चरक संहिता" में किया गया है। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति में इस रोग की सर्व प्रथम व्याख्या दूसरी शताब्दी के प्रख्यात यूनानी चिकित्सक एरेटियस द्वारा की गई थी । उसी ने इस रोग को "डायबेटिज मलाइटिस" नाम दिया था।

मधुमेह एक जटिल और कष्टसाध्य रोग कहलाता है। इसका प्रमुख कारण शर्करा का यकृत एवं पाचनतंत्र से अति उत्पादन और शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा इसका समुचित उपयोग न हो पाना ही है। "मेलिटस" शब्द का तात्पर्य है – मूत्र में अधिक शर्करा की उपस्थिति । संप्रति यह व्याधि विश्व में सर्वाधिक पायी जाने वाली उपापचयी व्याधि के रूप में परिलक्षित हुई है।

अद्ययन किये गये वैज्ञानिक सर्वेक्षणों से पता चला है कि हमारे देश में लगभग 2% व्यक्ति इस रोग से प्रत्यक्ष रूप से पीड़ित हैं। लगभग इतनी ही संख्या में ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्हें इस रोग से प्रभावित होते हुये भी यह आभास नहीं हो पाता कि वे वास्तव में मधुमेह से पीड़ित हैं। हमारे देश में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मधुमेह ग्रस्त रोगियों की अनुमानित संख्या 3.2 करोड़ है। स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से व्याप्त इस रोग के लिए आयु की कोई निर्धारित सीमा नहीं होती है। यद्यपि 90% रोगी जीवन के 40 वसंत पार कर चुके होते हैं। अनुमानतः 3% रोगी 20 वर्ष से न्यून आयु वाले होते हैं। निर्धन और धनी दोनों ही वर्ग इससे प्रभावित होते देखे गये हैं परन्तु शहरी अभिजात्य वर्ग के लोगों में इस रोग का प्रसार अधिक देखा जाता हैं।

कई परिवारों में इसे वंशानुगत रूप में भी देखा गया है। मधुमेह का प्रमुख कारण शरीर की रस क्रिया प्रणाली का विकार होता है। इस रोग में शरीर के अन्दर शर्करा की मात्रा आवश्यता से अधिक उत्पन्न हो जाती है परन्तु शरीर इसको काम में नहीं ले पाता है। हमारे दैनिक भोजन में अधिकांश मात्रा में कार्बोहाइड्रेट्स रहते हैं। ये आंतों में पहुंचकर शर्करा में परिवर्तित हो जाते हैं। यह शर्करा ग्लूकोज़ के रूप में अवशोषित होकर रक्त में घुलकर रक्त वाहिनियों के द्वारा शरीर के प्रत्येक अंग और कोशिका में पहुंचती है। व्यक्ति के सम्पूर्ण शरीर में रक्त प्रवाह सदैव होता रहता है और शरीर की अंतःस्राव व्यवस्था ही यह सुनिश्चित करती है कि रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा सदैव एक सी बनी रहे। यह कार्य प्रमुख रूप से इन्सुलिन नामक हारमोन करता है जो अग्नाशय में

स्थित एक विशिष्ट प्रकार के कोशिका समूह के द्वारा उत्पादित किया जाता है। इस कोशिका समूह को 'आइलेट्स आफ लैन्गरहैन्स' कहते हैं। यह वास्तव में एक अन्तःस्रावी ग्रंथि होती है। इस ग्रन्थि में स्थित – कोशिकायें ही इन्सुलिन का निर्माण करती हैं।

जब जब रक्त में ग्लूकोज का स्तर बढ़ता है तब तब इन्सुलिन के प्रभाव से अतिरिक्त ग्लूकोज़ यकृत में ग्लाइकोजेन में परिवर्तित हो जाती है और यही ग्लाइकोजेन आवश्यकता पड़ने पर (यथा - उपवास के समय) पुनः ग्लूकोज़ में परिवर्तित होकर हमारे शरीर को ऊर्जा प्रदान करती है। ग्लूकोज़ हमारे शरीर की जीवन प्रणाली में ईंधन के रूप में काम आता है। प्रत्येक शरीर कोशिका को रक्त के द्वारा ऑक्सीजन और ग्लूकोज़ दोनों ही प्राप्त होते रहते हैं और उपापचय क्रिया का संचालन सामान्य रुप से होता रहता है।

मधुमेह की अवस्था में यह सम्पूर्ण व्यवस्था ही भंग हो जाती है। शरीर में इन्सुलिन की कमी या एकदम न बन पाना ही इस अवस्था का मूल कारण होता है। फलस्वरूप शारीरिक कोशिकाओं को आवश्यक मात्रा में ग्लूकोज़ स्तर रक्त में अधिक ही बना रहता है। इस परिस्थिति में कोशिकाओं की व्याकुलता दूर करने के लिए जमा प्रोटीन एवं वसा से ग्लूकोज़ का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है और इसके परिणाम स्वरूप ग्लूकोज स्तर रक्त में और बढ़ने लग जाता है। जब यह रक्त उत्सर्जन क्रिया के लिए गुर्दों में पहुंचता है तो उन्हें भी कठिनाई होने लगती है क्योंकि गुर्दों का मूल कार्य ग्लूकोज़ को मूत्र के द्वारा व्यर्थ बाहर निकलने से रोकना है परन्तु जब ग्लूकोज़ स्तर इतना अधिक बढ़ जाता है कि गुर्दे भी उसे उत्सर्जन द्वारा बाहर निकलने से नहीं रोक पाते हैं तो मूत्र में ग्लूकोज़ की मात्रा बढ़ जाती है और उत्सर्जित जल की मात्रा भी बढ़ती है अतः आवश्यक लवण, खनिज एवं इलेक्ट्रोलाइट्स भी बाहर निकलने लगते हैं। इस स्थिति में रोगी बार बार मूत्र त्याग करता है। शरीर में जल की मात्रा सामान्य बनाये रखने हेतु उसे बार बार जलग्रहण करना पडता है।

मधुमेह के दो प्रधान लक्षण हैं – प्यास बढ़ना और मूत्र त्याग की बारंबारता में आशातीत वृद्धि होना। मधुमेह की प्रचण्ड अवस्था में शरीर की मांस पेशियों का विघटन भी होने लगता है इसलिये वे सूख जाती हैं। प्रोटीन और वसा के सुरक्षित भण्डार ग्लूकोज़ में परिवत्तित होने के कारण रोगी दुर्बल होने लगता है।

अधिक मात्रा में प्रोटीन और वसा के असामान्य विघटन के फलस्वरूप शरीर में नाना प्रकार के हानिकारक रसायन बनने लगते हैं और अम्लीयता में भी वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी अवस्था को 'कीटो ऐसिडोसिस' कहा जाता है। इसमें आपातकालीन उपचार की आवश्यकता पड़ती है। मधुमेह के मामले कभी एक जैसे नहीं होते हैं। सामान्यतः कुछ मामले प्रारंभिक डायबेटीज़ के ही होते हैं, इनमें कारण स्पष्ट नहीं होता हैं दूसरे मामलों में कारण सुस्पष्ट हुआ करता है जिन्हें द्वितीयक (सेकेण्डरी) मधुमेह की श्रेणी में रखा गया है। प्रारंम्भिक रूप से डायबेटीज़ दो प्रकार की पाई गई है– टाइप-I और टाइप-II।

टाइप-I प्रकार के मधुमेह को आई.डी.डी. या इन्सुलिन डिपेण्डेण्ट डायबेटीज़ कहते हैं। यह प्रायः बालकों और किशोरों में दृष्टिगोचर होती है। इसमें शरीर के द्वारा इन्सुलिन निर्माण नहीं होता है और रोगी को जीवित रहने के लिए सदैव कृत्रिम इन्सुलिन, इंजेक्शन द्वारा लेना पड़ता हैं। 1921 में इन्सुलिन के कृत्रिम रूप में आविष्कार होने के पूर्व ऐसे रोगी अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाते थे। अब इन्सुलिन के नियमित सेवन, उपयुक्त आहार, व्यायाम और सही देखभाल के द्वारा सामान्य जीवन बनाये रखना सम्भव है।

टाइप-II प्रकार के मधुमेह को एन.आई.डी.डी अथवा नान इन्सुलिन डिपेण्डेण्ट डायबिटीज़ कहते हैं। इसमें रोगी का इन्सुलिन के ऊपर आश्रित नहीं रहना पड़ता है। इस प्रकार के मधुमेह ग्रस्त रोगी सामान्यतः 40 वर्ष से अधिक आयु के होते हैं और उनका शरीर भारी होता है परन्तु वे अधिक शारीरिक श्रम करने में असमर्थ होते हैं। यह आई. डी.डी. के अपेक्षा कम उग्र होता है। कभी कभी इस प्रकार के रोगी को यह

भी आभास नहीं हो पाता है कि उन्हें मधुमेह है। मधुमेह के ज्यादातर मामले आई.डी.डी. प्रकार के नहीं होते हैं। टाइप-II प्रकार के ही रोगी अधिकतर पाये जाते हैं। इनमें या तो इन्सुलिन समय पर निर्मित होने के बावजूद उपलब्ध नहीं हो पाता और या वह प्रभावहीन हो जाता है। अतएव रक्त में ग्लूकोज स्तर संयमित नहीं रहता है। इस संयमन को पुनः स्थापित करने हेतु रोगी को संतुलित आहार, नियमबद्ध खानपान व्यवस्था के अतिरिक्त मधुमेह रोधक गोलियों का भी आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है।

द्वितीयक मधुमेह के कई स्वरूप होते हैं यथा क्रोनिक पैन्क्रियेटायटिस, एक्रोमिगैली, कुशिंग सिन्ड्रोम, फ़ियोक्रोमोसाइटोमा जो आगे चलकर मधुमेह को जन्म देते हैं। क्रोनिक पैन्क्रियेटायटिस मद्यपान का परिणाम है। यकृत के प्रमुख रोग- सिरहोसिस एवं हिपैटायटिस द्वारा भी रक्त में ग्लूकोज स्तर असामान्य हो जाता है। महिलाओं में एक विशिष्ट प्रकार का मधुमेह पाया जाता है जो केवल गर्भावस्था में प्रकट होता है। इसे जेस्टेशनल डायबिटीज़ कहते हैं।

प्रारंभिक मधुमेह के कारणों पर शोध जारी है। अब तक किये गये शोध कार्य से यह अवश्य स्पष्ट हो चुका है कि इस व्याधि के कई कारण हो सकते हैं। टाइप-I प्रकार का मधुमेह शरीर की प्रतिरोधक प्रणाली में विषाणुओं जनित गड़बड़ी से उत्पन्न होता है। इन्सुलिन निर्माण करने वाली कोशिकाओं के नष्ट हो जाने से मधुमेह होता है वाइरल संक्रमण से यह कोश नष्ट होने लगते हैं। टाइप-II प्रकार का मधुमेह प्रमुख रूप से वंशानुगत होता है। मोटे लोगों और जुड़वां संततियों में से 50% से 60% को इस प्रकार का मधुमेह हो जाता है। इसके लिये माता-पिता दोनों को मधुमेह ग्रस्त होना आवश्यक है। इस प्रकार के 80% रोगी स्थूलकाय होते हैं। आवश्यकता से अधिक भोजन, कम शारीरिक श्रम भी इसके कारण हो सकते हैं।

टाइप-I प्रकार के रोगियों में भूख में असामान्य बढ़ोत्तरी के होते हुये भी भार कम होना स्पष्टतः पाया जाता है। स्वभाव में चिड़चिड़ा पन, दुर्बलता, थकान आदि बढ़ती जाती है। रोगी को कभी कभी वमन भी होने लगता हैं और बेहोशी आ सकती है। दोनों ही प्रकार के मधुमेह के रोगियों में घावों का शीघ्र न भरना, हाथ पैरों में सुइयां दौड़ना, संज्ञाशून्यता, बारबार फोड़े फुंसी निकलना, निद्रा छाई रहना, दृष्टिक्षमता में परिवर्तन, त्वचा एवं मूत्र तंत्र का संक्रमण होना दृष्टिगोचर होता है। टाइप-II प्रकार के मधुमेह के रोगियों में स्पष्ट लक्षण शीघ्र सामने नहीं आ पाते हैं जब तक कि उनके रक्त और मूत्र का परीक्षण शर्करा स्तर हेतु न किया जाये।

मधुमेह के निदान हेतु सर्वाधिक विश्वसनीय विधि रक्त शर्करा स्तर का परीक्षण होता है। खाली पेट रक्त में शर्करा की मात्रा 140 मिलीग्राम प्रतिशत से कम होना सामान्य स्वास्थ्य का लक्षण है। इसी प्रकार शर्करा (भोजन) ग्रहण करने के 2 घंटे बाद शर्करा स्तर 200 मिलीग्राम प्रतिशत से अधिक होने पर ही मधुमेह का होना सिद्ध होता है।

मधुमेह से पीड़ित व्यक्ति के लिए संकट पूर्ण अवस्था अप्रत्याशित रूप से कभी भी आ सकती है। विशेषतः रक्त शर्करा स्तर के अतिशय न्यून हो जाने पर हाइपोग्लाइसीमिया की स्थिति और डायबेटिक कीटो ऐसिडोसिस की स्थिति अत्यंत संकटपूर्ण होती हैं।

हाइपोग्लाइसीमिया की स्थिति इन्सुलिन के आवश्यक मात्रा से अधिक लेने से अथवा निश्चित समय पर भोजन न ग्रहण करने से उत्पन्न हो सकती है। क्षमता से अधिक शारीरिक श्रम करने से भी यह स्थिति आ सकती है। इन्सुलिन न लेने वाले रोगियों में यह अवस्था आम तौर पर आती है। इसमें शरीर के समस्त अंग प्रत्यंग प्रभावित हो जाते हैं। बेचैनी, पसीना आना, दृष्टि अस्थिर होना, पांवों में लड़खड़ाहट, शरीर में कम्पन, सिरदर्द या चक्कर अनुभव होना इसके सामान्य लक्षण होते हैं। अधिक उग्रावस्था में हृदय गति तीव्र हो जाती है, जोरों की भूख लगती है और रोगी को दौरा पड़ सकता है या बेहोशी आ सकती है।

डायबेटिक कीटो एसिडोसिस की स्थिति लापरवाह रोगियों में विशेष रूप से पाई गई है। इसमें समस्त जैव रासायनिक प्रक्रियायें अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। रक्त में ग्लूकोज़ स्तर तेज़ी से बढ़ता है शरीर भी अधिकाधिक ग्लूकोज़ के निर्माण में तत्पर रहता है। प्रोटीन एवं ग्लायकोजन के सुरक्षित भण्डार का विघटन होने लगता है। फलतः ग्लूकोज, नाइट्रोजन, जल और इलेक्ट्रोलाइट्स कोशिकाओं से बाहर आने लग जाते हैं। मूत्र के द्वारा बड़ी मात्रा में जल के साथ पोटैशियम, फास्फोरस और मैग्नीशियम तत्व बाहर निकलने लगते हैं। एकत्रित वसा के विघटन से एसिटोन की मात्रा रक्त में बढ़ने लगती है फलस्वरूप रक्त अम्लता भी बढ़ जाती है। CO_2 की मात्रा बढ़ने लगती है और इसे उत्सर्जित करने हेतु रोगी तेज़ी से श्वास लेने लगता है। शरीर में जल की कमी भी हो जाती हैं। इस दौरान किसी तीव्र संक्रमण या दबाव के होने पर संकटकालीन क्षण आ सकते हैं। दृष्टि धूमिल या अस्पष्ट हो जाती है, पेट में तेज़ दर्द हो सकता है। वमन और मितली भी हो सकती है। उच्छवास में अधिक पके हुये फलों जैसी गंध आने लगती है। आंखें धंस जाती हैं नब्ज़ धीमी पड़ जाती है और अधिक लापरवाही होने पर रोगी बेहोश हो सकता है। इस अवस्था को डायबेटिक कौमा भी कहा जाता है।

कीटो ऐसिडोसिस का निदान मूत्र और रक्त परीक्षण द्वारा हो जाता है। इन्सुलिन के नियमित इंजेक्शन लेते रहने और उचित खानपान व्यवस्था के द्वारा रोगी की जीवन रक्षा संभव है।

मधुमेह के लिये इन्सुलिन संजीवनी बूटी के समान है। सभी प्रकार के मधुमेह में इंसुलिन के महत्व को कोई अमान्य नहीं कर सकता है। एन.आई.डी.डी. प्रकार के मधुमेह वाले रोगियों को नियमित रूप से इसे लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती हैं। केवल संकट काल में ही इसे लेना पड़ सकता है। आई. डी.डी. मधुमेह से ग्रस्त रोगी को इन्सुलिन का नियमबद्ध सेवन परमावश्यक होता है।

कृत्रिम इन्सुलिन प्रमुख रूप से जंतुओं के अग्न्याशय से प्राप्त की जाती है। गाय, बैल और भैसों के अग्न्याशय से प्राप्त होने वाली इन्सुलिन 'बोवाइन इन्सुलिन' कहलाती है। सुअरों से प्राप्त होने वाली इन्सुलिन को 'पोर्सिन इन्सुलिन' कहते हैं। पोर्सिन इन्सुलिन और मनुष्य के शरीर में तैयार होने वाली इन्सुलिन के घटकों में केवल एक एमिनो एसिड का ही अंतर होता है जबकि बोवाइन प्रकार की इन्सुलिन में तीन एमिनोएसिड घटक का अंतर होता है अधिकांश रोगियों में दोनों प्रकार की इन्सुलिन में से कोई एक प्रकार की ठीक बैठती है।

बाज़ार में दोनों ही प्रकार की इन्सुलिन उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त दोनों का मिश्रण भी मिलता है। तीनों प्रकार की इन्सुलिनों के प्रभाव में अवश्य अंतर होता है। उन्नत देशों में वैज्ञानिकों ने जैवप्रौद्योगिकी एवं जेनेटिक इंजीनियरिंग की सहायता से मानव शरीर में उत्पन्न होने वाली इन्सुलिन से एकदम मिलता जुलता कृत्रिम इन्सुलिन बना लिया है पर यह अत्यधिक महंगा पड़ता है। सम्प्रति, ऑक्सफ़ोर्ड के वैज्ञानिकों ने मधुमेह के लिए उत्तरदायी जीन को भी खोज निकाला है जिसके उत्परिवर्तन के कारण ही वयस्कों या प्रौढ़ों में मधुमेह होता है।

प्रौढ़ावस्था अथवा वृद्धावस्था का मधुमेह एक विशिष्ट जीन में होने वाले उत्परिवर्तन का परिणाम है जिसके कारण ग्लूकोज़ इन्ज़ाइम का निर्माण हो पाता है और इसीलिए सामान्य इन्सुलिन का निर्माण बाधित हो जाता है। इस प्रकार केवल 50% या कम मात्रा में ही इन्सुलिन निर्माण होता हैं।

अद्यतन वैज्ञानिक शोध से मधुमेह के आधारभूत कारणों की वंशानुगत आधार पर की गई व्याख्या की सफलता और विश्वसनीयता ने यह आशा जगाई है कि चिकित्सा जगत की कई कष्टसाध्य या असाध्य व्याधियों के ऊपर आण्विक जीव-विज्ञान, वंशानुगतता एवं जनेटिक इंजीनियरिंग की सहायता से नियंत्रण पाना असंभव नहीं हैं।

❑ ❑ ❑

सदृश चिकित्सा पद्धति (होम्योपैथी) : वैज्ञानिक पहलू

डॉ. घनश्याम दास जिन्दल
इलेक्ट्रॉनिकी प्रभाग
भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र
बम्बई - 400 085.

सदृश्य चिकित्सा पद्धति (होम्योपैथी) औषधि विज्ञान की वह विधा है जो आधुनिक विज्ञान द्वारा लगे अनेक संदेहों तथा प्रश्न चिन्हों से घिरी हुई है। यह एक रोचक प्रश्न है कि भौतिक रूप से किसी भी औषधीय तत्व की अनुपस्थिति के उपरान्त भी यह पद्धति रोग निदान में किस प्रकार सहायक है? आजकल एलोपैथी दवाईयों से होने वाले 'साइड इफेक्ट्स' को देखते हुए होम्योपैथी का प्रचलन बढ़ रहा है। इसलिए इस पद्धति की व्यापक स्वीकृति के लिये उठाये जाने वाले कुछ आवश्यक कदमों की ओर इस लेख में संकेत किया गया है।

सदृश चिकित्सा पद्धति का आविष्कार लगभग 2 सदी पूर्व डॉ. सेमुअल हनैमन (जो स्वयं एक एलोपैथिक चिकित्सक थे) द्वारा किया गया था। इस पद्धति के अनुसार जो पदार्थ सूक्ष्म मात्रा में दिए जाने पर एक स्वस्थ शरीर में जो विकार/शारीरिक लक्षण उत्पन्न करता है, वही पदार्थ एक रुग्ण शरीर में वैसे ही लक्षणों के निदान की क्षमता रखता है। करीब आधी सदी पूर्व तक यह चिकित्सा पद्धति आधुनिक एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति के लगभग समकक्ष थी। परन्तु नई औषधियों (विशेष कर एन्टीबायोटिक्स) के आविष्कार व निर्माण और रोग की जानकारी के लिए विकसित नई तकनीकों (उदाहरणार्थ सूक्ष्म-दर्शी परीक्षण, क्ष-किरण छाया-चित्रण, अल्ट्रासाउन्ड परीक्षण, टोमोग्राफी इत्यादि) की सहायता से आधुनिक चिकित्सा पद्धति सभी समकक्ष पद्धतियों (होम्योपैथी, आयुर्वेद, यूनानी इत्यादि) को पीछे छोड़कर बहुत आगे बढ़ गई। आधुनिक विज्ञान से तर्क संगत न होते हुए भी होम्योपैथी जैसी चिकित्सा पद्धतियाँ आज भी मानव जाति के रोग निदान में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं और फल फूल रही हैं। दुर्भाग्य वश चिकित्सा के क्षेत्र में इनको वह स्थान नहीं मिल पाया जिसकी कि ये वास्तव में हकदार हैं।

होम्योपैथी क्या है?

संक्षेप में होम्योपैथी चिकित्सा विधि को निम्न चरणों में क्रमबद्ध किया जा सकता है:

1. औषधीय तत्व से शक्तिकृत (potentised) औषधि का निर्माण,
2. स्वस्थ मानव शरीर पर प्रयोग द्वारा औषधि के गुणों की खोज,
3. रोगी पर औषधि के प्रयोग द्वारा इसके गुणों की पुष्टि, और
4. रोग का निदान।

जिस पदार्थ से औषधि तैयार करनी हो उसका सूक्ष्म भाग (1 ग्राम ठोस या 1 बूंद यदि द्रव हो) माध्यम पदार्थ (99 ग्राम सूक्रोज या 99 बूंद सुरा) में मिला दिया जाता है। इस मिश्रण को यांत्रिक ऊर्जा प्रदान की जाती है जिससे मिश्रण का शक्तिकरण होता है। ठोस मिश्रण को खरल में अच्छी तरह घोट कर और द्रव मिश्रण को एक विशेष विधि से हिला हिला कर यांत्रिक ऊर्जा प्रदान की जाती है (द्रव मिश्रण को तीव्र गति से निश्चित ऊंचाई से नीचे लाकर किसी समतल पर ठोका जाता है)। इस प्रकार तैयार की गई

औषधि की शक्ति (Potency) '1- सी' मानी जाती है। अब इस औषधि का एक भाग माध्यम पदार्थ के 99 भाग से मिलाकर उपरोक्त क्रिया द्वारा '2-सी' शक्ति की औषधि तैयार की जाती है। इस क्रिया की पुनरावृति से विभिन्न शक्तियों, जैसे कि 3,6,12,30,200,1000,50,000 एवं 100,000-सी की औषधि तैयार की जाती है।

यहाँ आधुनिक विज्ञान के एक आधार स्तम्भ एवं अति महत्वपूर्ण तथ्य 'एवोगेड्रो नियम' का उल्लेख अति आवश्यक है जिसके अनुसार किसी पदार्थ के 1 ग्राम-मोल में पदार्थ के अणुओं की संख्या 6.023 x 10^{23} होती है। इस नियम के अनुसार 12 या उससे अधिक शक्तिशाली होम्योपैथिक औषधियों में औषधीय तत्व का एक अणु भी विद्यमान नहीं रहता। यही कारण है कि होम्योपैथिक औषधियों का रासायनिक विश्लेषण सम्भव नहीं हो पाया है। यह भी स्मरणीय है कि शक्तिकृत औषधि को गर्म करने, सूर्य की रोशनी या चुम्बकीय क्षेत्र में रखने पर इसका औषधि गुण समाप्त हो जाता है और उसके बाद इस में और माध्यम पदार्थ में कोई भिन्नता नहीं रहती। अर्थात यान्त्रिक ऊर्जा के अलावा अन्य प्रकार की ऊर्जा प्रदान करने से शक्तिकृत औषधि का गुण समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार तैयार की गई औषधि के गुणों की खोज करने के लिए इन दवाओं का प्रयोग स्वस्थ मानव शरीरों पर किया जाता है। वांछित शक्ति की दवा दिन में 3-4 बार मनुष्य को तब तक खिलाई जाती है (अधिक से अधिक लगभग 1 महीने तक) जब तक कि किसी रोग के लक्षण उजागर ना हो जाएं। पहला लक्षण उजागर होने पर दवा का सेवन बन्द कर दिया जाता है और शरीर में उत्पन्न होने वाले विकारों/लक्षणों को क्रमबद्ध तरीके से लिख लिया जाता है। वास्तव में इन लक्षणों के साथ औषधि की शक्ति का उल्लेख भी आवश्यक है परन्तु बहुधा यह जानकारी इस चिकित्सा पद्धति के साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। प्रत्येक औषधि का अध्ययन कई स्वस्थ शरीरों (लगभग 10) पर किया जाता है ताकि उभरने वाले लक्षणों का मिलान किया जा सके। यह स्मरणीय है कि अधिकतर औषधियों का अध्ययन श्री हनैमन ने अपने ऊपर और अपने सहयोगियों के ऊपर किया था।

जब किसी औषधि के प्रयोग से रुग्ण शरीर के एक या अधिक लक्षण मिट जाते हैं तो इससे औषधि के गुणों की पुष्टि हुई मानी जाती है। प्रत्येक औषधि के लक्षणों को निम्न श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

उच्च श्रेणी : जो लक्षण अध्ययन के दौरान अधिकतर व्यक्तियों में प्रकट होता है और पुष्टि के दौरान अधिकतर रोगियों में मिट जाता है।

मध्यम श्रेणी: जो लक्षण अध्ययन के दौरान कुछ व्यक्तियों में प्रकट होता है और पुष्टि के दौरान कुछ रोगियों में मिट जाता है।

निम्न श्रेणी : जो लक्षण अध्ययन के दौरान 1-2 व्यक्तियों में प्रकट होता है और जिसकी पुष्टि अभी तक नही हो पाई है।

चिकित्सा के दौरान रोगी के सभी विकारों/लक्षणों एवं अनुभूतियों (इच्छाएं, अनिच्छाएं, पसंद-नापसंद, स्वभाव, विचार इत्यादि) को श्रेणी के अनुसार क्रमबद्ध कर लिया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि इस चिकित्सा पद्धति में रोगी की अनुभूतियों को विशेष महत्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ पाचन प्रणाली रोग में एक रोगी तली हुई चीजें खाता रहता है यद्यपि ये उसे नुकसान पहुंचाती हैं जबकि एक दूसरा रोगी तली हुई चीजें नापसन्द करता है। इसी प्रकार ज्वर से पीड़ित एक रोगी बार-बार पानी पीता है, दूसरा रोगी बहुत ठण्डा पानी पीना चाहता है। और तीसरा रोगी बिल्कुल पानी नहीं पीना चाहता। होम्योपैथी में प्रथम रोग में दोनों रोगियों एवं द्वितीय रोग में तीनों रोगियों के लिए अलग अलग औषधि का चुनाव करना पड़ता है। रोगी के सभी लक्षण और अनुभूतियाँ जिस औषधि के गुणों से सर्वाधिक मेल खाते हैं वही औषधि उस रोगी के लिए उपयुक्त है। औषधि की शक्ति एवं

मात्रा का चयन अधिकतर चिकित्सक के निजी अनुभव पर आधारित होता है क्योंकि इस विषय पर होम्योपैथी के साहित्य में स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं हैं। साधारणतया उग्र बीमारियों (Acute Diseases) में कम शक्ति वाली औषधियों का अधिक मात्रा में और पुरानी बीमारियों में अधिक शक्तिवाली औषधियों का कम मात्रा में उपयोग होता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण :

होम्योपैथी की कार्य-प्रणाली को आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो निम्नलिखित प्रश्न सामने आते हैं जिनका समाधान होम्योपैथिक चिकित्सक नहीं कर पाए हैं और आधुनिक विज्ञान के पास भी अभी कोई उत्तर नहीं है।

1. जब बारह और उससे अधिक शक्तिवाली औषधि में औषधि तत्व का एक भी अणु विद्यमान नही है तब वह किस प्रकार मानव शरीर पर कार्य करता है?
2. क्या अज्ञात होम्योपैथिक औषधि की वैज्ञानिक रीति से पहचान सम्भव है? अर्थात क्या दवा की शीशी पर लिखे नाम की सत्यता प्रमाणित करनी सम्भव है?
3. किसी रोग के होम्योपैथी द्वारा निदान होने की संभावना कितनी है? जिस प्रकार आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में किसी रोग के उत्पन्न होने के कारण, उससे शरीर में प्रकट होने वाले लक्षण, रोग निदान के तरीके और उसके निदानी करण की संभावना विस्तृत रुप से ज्ञात है क्या यह ज्ञान सदृश चिकित्सा पद्धति में उपलब्ध है?
4. औषधि की शक्ति के चयन का वैज्ञानिक आधार क्या है? अर्थात चिकित्सक के निजी अनुभव को छोड़कर क्या कोई ऐसा मापदंड है जिससे रोगी को उपयुक्त शक्ति की दवा दी जा सके?

आधुनिक विज्ञान के अनुसार किसी भी रासायनिक क्रिया के लिए कम से कम पदार्थ के एक अणु का उपस्थित होना आवश्यक है। फिर बिना अणुवाली यह होम्योपैथिक औषधि शरीर में किस प्रकार कार्य करती है? इसके उत्तर में प्रायः यह सुनने में आता है कि जिस प्रकार लोहे पर चुम्बक रगड़े जाने से चुम्बक के गुण लोहे में भी आ जाते हैं उसी प्रकार औषधि पदार्थ औषधि निर्माण के दौरान माध्यम पदार्थ में अपने गुण छोड़ देता है। परन्तु विडम्बना यह है कि चुम्बकीकृत लोहे का गुण प्रयोगशाला में सिद्ध किया जा सकता है जबकि औषधि पदार्थ का गुण औषधि में प्रमाणित नही किया जा सकता। यद्यपि कुछ चिकित्सकों ने किरलियन छायाचित्रण (Kirlian Photography) द्वारा यह सम्भव बतलाया है परन्तु अभी तक इस तकनीक का व्यापक प्रयोग नहीं हुआ है! माध्यम के औषधिकरण और लोहे के चुम्बकीकरण में एक समानता अवश्य है कि दोनों ही गर्म करने पर अपना विलक्षण गुण त्याग देते हैं।

कुछ चिकित्सकों ने एल्फा, बीटा और गामा किरणों के उदाहरण से होम्योपैथिक औषधि के शक्तिकरण को समझाने का प्रयास किया है जो कि निरर्थक ही है।

पिछले दशक में इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण परिकल्पनाएं सामने आई हैं। अप्रैल 1987 में डॉ. (श्रीमती) अकल्पिता परांजपे ने हाइड्रोजन बंधन के माध्यम से शक्तिकृत औषधि में औषधीय तत्व के गुणों का होना समझाया है। यह ज्ञात है कि जब कोई अशुद्धि सूक्ष्म मात्रा में पानी या हाइड्रोजन बन्धन वाले किसी अन्य द्रव में मिलाई जाती है तो द्रव के कुछ गुणों (जैसे कि ऊष्मा क्षमता, सर्वाधिक घनत्व पर तापमान, ऊष्मा संचालन इत्यादि) में असाधारण रूप से परिवर्तन आजाता है। परिवर्तन का मान अशुद्धि पदार्थ के गुणों एवं उसकी मात्रा के हिसाब से कहीं ज्यादा होता है। ऐसी मान्यता है कि अशुद्धि की उपस्थिति से द्रव में हाइड्रोजन बंधन संरचना इस प्रकार बदल जाती है कि द्रव के गुणों में अप्रत्याशित परिवर्तन आजाता है। समानान्तर रुप से श्रीमती परांजपे की परिकल्पना के अनुसार पहली शक्ति की औषधि तैयार

करते समय औषधि तत्व माध्यम पदार्थ की हाइड्रोजन बंधन संरचना बदल देता है। इस औषधि से जब अगली उच्च शक्ति की औषधि तैयार की जाती है तो उसकी हाइड्रोजन बंधन संरचना फिर बदल जाती है। इस प्रकार यह प्रक्रिया जारी रहती है। यह परिवर्तित हाइड्रोजन बंधन संरचना औषधियों में बिना अणु की उपस्थिति के भी औषधि तत्व के गुणों को पहुँचाती है।

इस परिकल्पना के आधार पर यह समझ में आता है कि गर्म करने पर औषधि की हाइड्रोजन बंधन संरचना टूट जाती हैं और उसके बाद की संरचना माध्यम द्रव वाली संरचना जैसी ही होती है। इस प्रकार गर्म करने के बाद शक्तिकृत औषधि और माध्यम द्रव में कोई भिन्नता नहीं रहती।

इस परिकल्पना के आधार पर यह भी समझ में आता है कि होम्योपैथिक औषधि मानव शरीर में किस प्रकार रोग निदान करती है। मानव शरीर में जल की महत्वपूर्ण भूमिका है। जल प्रवाह द्वारा ही शरीर के अवयवों को भोजन, ऊर्जा इत्यादि मिलते हैं। रोगी के शरीर में जब शक्तिकृत औषधि का समावेश होता है तो औषधि की हाइड्रोजन बंधन संरचना शरीर के जल की संरचना को प्रभावित करती है। यह प्रभावित जल शरीर के अवयवों तक पहुंच कर जीवनी शक्ति (Vital Force) को ऊर्जा देकर रोग निदान करता है अथवा अन्य किसी कार्यविधि द्वारा, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह स्पष्ट है कि रोग निदान रासायनिक क्रिया द्वारा नही अपितु ऊर्जा स्थानांतरण द्वारा होता है।

यह परिकल्पना यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सटीक लगती है परन्तु इसका प्रयोगशाला में प्रमाणित होना आवश्यक है। विडम्बना यह है कि शक्तिकृत औषधि के विश्लेषण के लिए किसी विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग करना पड़ेगा और तब उसे किसी न किसी रूप में ऊर्जा प्रदान करनी ही पड़ेगी। उदाहरणार्थ इन्फ्रारेड स्पेक्ट्रोस्कोपी विधि में औषधि को विद्युत चुम्बकीय तरंगों द्वारा ऊर्जा देनी ही पड़ती है और परिणाम यह होता है कि औषधि की हाइड्रोजन बंधन संरचना बदल जाती है एवं वांछित विश्लेषण असम्भव हो जाता है। श्रीमती परांजपे ने शक्तिकृत औषधि और माध्यम द्रव के इन्फ्रारेड स्पक्ट्रोस्कोपी में यही पाया कि दोनों के स्पेक्ट्रमों में कोई भिन्नता नहीं है।

फ्रांसीसी वैज्ञानिक श्री दवेनास और उनके सहयोगियों ने विस्तृत प्रयोगों द्वारा लगभग यही परिकल्पना सिद्ध की थी परन्तु बाद में उसे झुठला दिया गया। उनका प्रयोग इस तथ्य पर आधारित है कि जब मानवीय पॉलीमार्फोन्यूक्लियर बेसोफिल्स (Polymorphonuclear Basophils) और इम्यूनो ग्लोबुलिन-ई (Immunoglobulin-E) एन्टीबॉडीज को एन्टीइम्यूनोग्लोबूलिन-ई एन्टीबॉडीज के सम्पर्क में लाया जाता है तो बेसोफिल्स के अभिरंजन (Staining) गुणों में परिवर्तन आ जाता है। उन्होंने एन्टीइन्यूनोग्लोबूलिन-ई एन्टीबॉडीज का होम्योपैथिक विधि से 120 शक्ति तक शक्तिकरण किया और बेसोफिल्स के अभिरंजन गुणों का परीक्षण किया। उन्होंनें पाया :

1. दूसरी शक्ति से लेकर 120 शक्ति तक सभी शक्तिकृत घोलों से बेसोफिल्स के अभिरंजन गुणों में परिवर्तन होता है।
2. शक्तिकृत घोलों से ही गुणों में परिवर्तन होता है साधारण घोल से गुणों में परिवर्तन नहीं होता।
3. जल, इथाइल एल्कोहल या प्रोपाइल एल्कोहल में तैयार किए हुए शक्तिकृत घोलों से बेसोफिल्स के गुणों में परिवर्तन होता है, परन्तु डाइ-इथाइल सल्फोक्साइड से तैयार किए गए शक्तिकृत घोल से गुण परिवर्तन नहीं होता।
4. शक्तिकृत घोल को गर्म किया जाय या जमा दिया जाय या पराध्वनि तरंगों से अभिकृत किया जाय तो बेसोफिल्स के गुणों में परिवर्तन नहीं होता।

इन परीक्षणों से श्री दवेनास और उनके सहयोगियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि एन्टी इम्यूनोग्लोबूलिन-ई एन्टीबॉडीज अपना प्रभाव हाइड्रोजन बंधन जैसी किसी प्रक्रिया से शक्तिकृत घोल में छोड़ देती हैं जिससे 120 शक्ति तक के घोल से भी बेसोफिल्स के गुणों में परिवर्तन आ जाता है यद्यपि 12 शक्ति के उपरान्त घोल में एन्टीबॉडीज का एक भी अणु विद्यमान नहीं रहता। तदोपरान्त साहित्य में इन प्रयोगों की सत्यता पर सन्देह व्यक्त किया गया है परन्तु फिर भी आशा की किरण तो दृष्टिपात होती ही है।

अब हम ऊपर दिए गए दूसरे प्रश्नों की ओर आते हैं। यह सत्य है कि अज्ञात औषधि की पहिचान किसी वैज्ञानिक उपकरण द्वारा असंभव है परन्तु यही औषधि स्वस्थ मानव शरीर पर जो लक्षण उत्पन्न करती है वे निश्चय रूप से दवा की पहिचान कर देते हैं। यह प्रयोग कोई भी वैज्ञानिक अपने ऊपर या अपने सहयोगियों पर कितनी ही बार दोहरा सकता है और इस कथन की सत्यता प्रमाणित कर सकता है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण तथ्य है जो इस चिकित्सा पद्धति को वैज्ञानिक आधार देता है।

जहाँ तक चिकित्सा सांख्यिकी का प्रश्न है, यह जानकारी अभी तक सदृश चिकित्सा पद्धति में उपलब्ध नहीं है। परन्तु यह कार्य असम्भव भी नहीं है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति द्वारा विकसित अनेकों तकनीकियों, जैसे कि सूक्ष्म-दर्शी परीक्षण, क्ष-किरण छायाचित्रण, पराध्वनी परीक्षण, टोमोग्राफी इत्यादि के द्वारा निदानी करण के दौरान और पूर्ण निदान होने पर रोग की अवस्था ज्ञात हो जाती है। आवश्यकता है होम्योपैथिक चिकित्सकों के एक जुट होकर यह जानकारी एकत्रित करने की। वैसे यह कार्य होम्योपैथी के महाविद्यालय और अनुसंधान केन्द्र सुगमता से कर सकते हैं।

औषधि की शक्ति का चयन यद्यापि कुछ चिकित्सकों ने सम्भवतः अपने निजी अनुभव के आधार पर बतलानें की कोशिश की है परन्तु सत्य इसके विपरीत है। वास्तविकता यह है कि स्वस्थ शरीरों पर प्रयोग के दौरान उभरने वाले लक्षणों को शक्ति के हिसाब से क्रमबद्ध किया जाए तो यह तथ्य सामने आता है किन लक्षणों के लिए कौनसी शक्ति की औषधि का चुनाव वैज्ञानिक दृष्टि से सटीक होगा।

औषधि-शक्ति के महत्व को समझने के लिए होम्योपैथी में यह माना जाता है कि शरीर में विकार उत्पन्न होने का कारण जीवनी शक्ति का दुर्बल होना है। यह दुर्बलता नैसर्गिक कारणों, बाह्य आक्रमण, बुरी आदतों या शारीरिक दुरुपयोग आदि किसी भी कारण से आ सकती है। बाह्य कीटाणुओं द्वारा आक्रमण जैसी उग्र बीमारियों में यह दुर्बलता कम मात्रा में होती है और उसके लिए कम शक्ति वाली औषधि का प्रयोग उपयुक्त होता है (चित्र-1)। परन्तु थोड़े समय बाद कीटाणुओं की संख्या बढ़ने पर पुनः औषधि का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इसलिए ऐसे रोगों में कम शक्तिवाली औषधि दिन में कई बार दी जाती है। अन्ततः 2-3 दिन के बाद कीटाणुओं की संख्या पूरी तरह खत्म होने पर शरीर स्वस्थ हो जाता है।

असाध्य या पुरानी बीमारियों में उग्र बीमारियों के विपरीत यद्यपि रोग की उग्रता कम होती है परन्तु जीवनी शक्ति में दुर्बलता अधिक होती है। यह दुर्बलता रोग की अवधि बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है (चित्र-2; रोग किस प्रकार उपचार के अभाव में आक्रमक या चर्म रोग से बढ़ता बढ़ता मष्तिष्क रोग तक पहुंच जाता है)। इस तरह के रोगो में अधिक शक्तिवाली औषधि का उपयोग आवश्यक है। रोग की जितनी अधिक गहराई होती है जीवनी शक्ति उतनी ही कमजोर होती है और वांछित औषधि की शक्ति उतनी ही ज्यादा होती है। यदि रोगी को दी गई औषधि की शक्ति अपेक्षित होती हैं तो रोगी स्वस्थ हो जाता हैं (चित्र 2-अ)। परन्तु जब औषधि की शक्ति अपेक्षित शक्ति के कम होती है तो रोगी पूर्ण स्वस्थ अवस्था में आने की बजाय कम घातक रोग की अवस्था में आ जाता है? पुनः उपयुक्त शक्ति की औषधि देने

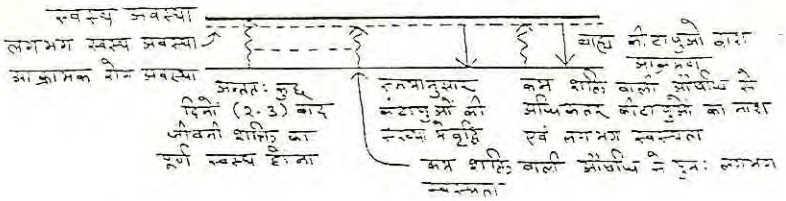

चित्र - 1

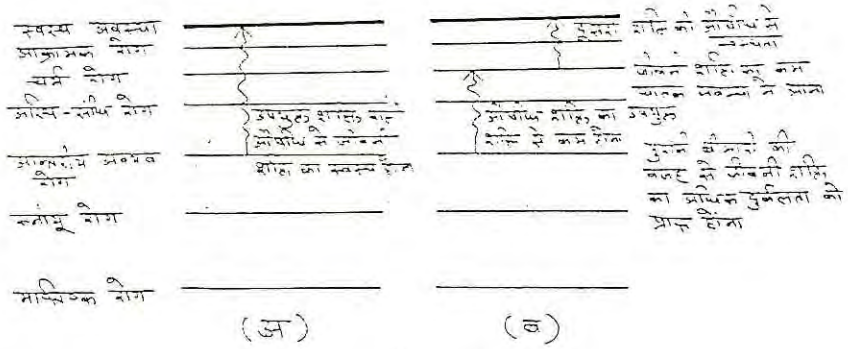

चित्र - 2

पर रोगी रोग मुक्त हो जाता है (चित्र 2-ब)। स्मरणीय है कि कई बार दमा का इलाज करते समय रोगी को त्वचा रोग हो जाता है जो कि कम घातक है और इसी प्रकार हृदय रोग का इलाज करते समय अस्थि-संधि रोग हो जाता है जो हृदय रोग से कम घातक है।

इसलिये यह आवश्यक है कि औषधि की खोज के दौरान स्वस्थ मानव शरीर में अवस्था परिवर्तन औषधि की शक्ति के हिसाब से क्रमबद्ध किया जाना चाहिए ताकि चिकित्सक रोगी को उपयुक्त शक्ति की औषधि दे सके। कुछ होम्योपैथिक महाविद्यालयों में यह कार्य किया जा रहा है जो आने वाली पीढ़ी को बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। आवश्यकता है इस कार्य को महत्व देने की तथा परिणामों के प्रसारित करने की।

भविष्य के लिए संकेत :

ऐसी किसी विश्लेषणात्मक तकनीकी का विकास करना जो 12 से अधिक शक्तिशाली औषधियों को माध्यम पदार्थ से भिन्न साबित कर सके। यह कार्य अभी यथार्थ से दूर है। परन्तु चिकित्सा सांख्यिकी आसानी से प्राप्त की जा सकती है। इस कार्य से मानव शरीर पर शक्तिकृत औषधि की क्रिया की भी वैज्ञानिक रूप से पुष्टि हो जाती है जो कि इस चिकित्सा पद्धति के विकास में एक मील का पत्थर सिद्ध होगा। आज भी यदि हर चिकित्सक वर्ष में कम से कम 5 रोगियों पर अपने अनुभव उपलब्ध कराए तो आगामी 10 वर्षों में चिकित्सा सांख्यिकी के लिए इतने आंकड़े मिल जाऐंगे कि हर चिकित्सक अपने रोगी को उसके रोग-निदान होने की संभावना बता सकेगा।

❑ ❑ ❑

अपशिष्ट-जल उपचार प्रौद्योगिकी

डॉ. वी.पी. देशपाण्डे, और
राधेश्याम शर्मा
राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसंधान,
नागपुर-440 020.

जन-साधारण के जीवन स्तर को सुधारने, दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की आपूर्ति और देश की प्रगति एवं विकास के लिए कृषि, उद्योग और उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि आवश्यक है। स्वतंत्रता के तुरंत बाद पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत देश में अनेक नए-नए उद्योग लगाए गए। इससे देश की आर्थिक प्रगति का मार्ग तो प्रशस्त हुआ लेकिन अनियंत्रित औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप दोहरा नुकसान उठाना पड़ा। एक तो दुर्लभ प्राकृतिक संसाधनों में तेजी से कमी आई और दूसरे ठोस, द्रव और गैसीय उत्सर्जनों से भूमि, जल और वायु प्रदूषण की समस्या का सामना करना पड़ा। इन परिस्थितियों में जल प्रदूषण की समस्या के निवारण से संबंधित प्रौद्योगिकी की जानकारी इस लेख में दी गयी है।

घरों और उद्योगों का कूड़ा-कचरा और गंदा पानी आस-पास के नदी नालों में या जमीन पर वैसे ही बहा दिया जाता है जिससे जल स्रोत दूषित हो जाते हैं और पानी उपयोग में लाने योग्य नहीं रह जाता। इस का कारण मल-प्रवाह व्यवस्था का अभाव और महंगी जल उपचार प्रक्रिया हो सकती है। जल स्रोतों में बहाए जाने वाले गंदे पानी में जैव पदार्थ अकार्बनिक लवण, निलंम्बित (Suspended) पदार्थ तेल और चिकनाई, रंग, विषैले रसायन, अम्ल, क्षार और रेडियोधर्मी तत्व होते हैं जिससे जल प्रदूषित हो जाता है।

शुद्ध जल में ऑक्सीजन घुली रहती है। जैव पदार्थों के कारण पानी में ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है जिसका मछली और अन्य जल जीवों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, कीटनाशक और खर पतवार नाशक कार्बनिक रसायनों, केडमियम, क्रोमियम और पारे जैसे अकार्बनिक रसायनों की अल्प मात्रा भी मनुष्य, मछलियों और जल के अन्य जीवों के लिए घातक हो सकती है। तेल और चिकनाई के कारण जल शुद्धिकरण की प्राकृतिक प्रक्रिया में बाधा आती है और पानी में घुली ऑक्सीजन में कमी आ जाती है। कागज आदि उद्योगों के रंगीन बहिःस्राव से जल की सुंदरता नष्ट हो जाती है और तैरने और मनोरंजन आदि के लिए उपयोग में नही लाया जा सकता और ऐसे पानी का उपचार कठिन होता है।

घरेलू गंदे पानी (वाहित-मल) की तुलना में औद्योगिक अपशिष्ट-जल का उपचार कठिन है क्योंकि भिन्न-भिन्न उत्पादन/निर्माण प्रक्रियाओं के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कच्चे माल का इस्तेमाल किया जाता है जिससे एक ही उद्योग से निकलने वाले अपशिष्ट-जल के लक्षण भिन्न होते हैं। प्रत्येक उद्योग में जल की विशिष्ट मात्रा का उपयोग होता हैं, निर्माण प्रक्रिया भी भिन्न होती है तथा स्थान विशेष की स्थलाकृति (टोपोग्राफी) और जलवायु के कारण भी औद्योगिक अपशिष्ट-जल उपचार प्रक्रिया जटिल हो जाती है।

अपशिष्ट-जल का उपचार किस प्रकार और कितना किया जाए, यह इस बात पर निर्भर करता है कि अपशिष्ट-जल में कौन-कौन से तत्व हैं और उनका

निपटान किस प्रकार किया जाएगा। उपचार से अपशिष्ट-जल पेय जल के समान शुद्ध किया जा सकता है। लेकिन, इसके लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी। इसलिए उपचार की ऐसी विधि अपनानी चाहिए जिससे अपशिष्ट जल, स्रोत में बहाने लायक हो जाए और उपचार प्रक्रिया सस्ती भी हो।

घरेलू और औद्योगिक अपशिष्ट-जल उपचार के लिए अनेक प्रकार के उपकरण और विधियां काम में लाई जाती हैं जिनमें से कुछ प्रमुख तकनीकों का विवरण इस लेख में प्रस्तुत किया गया है।

उपचार के साथ-साथ ऐसे उपायों की भी आवश्यकता है जिनसे अपशिष्ट-जल कम मात्रा में प्राप्त हो और प्रदूषण भी कम हो। इसके लिए बहिस्राव से उपजात की पुनः प्राप्ति, निर्माण प्रविधि में इस्तेमाल किए जाने वाले महंगे रसायनों के स्थान पर सस्ते और आसानी से मिलने वाले रसायनों का उपयोग और उत्पादन सम्बन्धी अन्य कार्यों में कम प्रदूषित जल के उपयोग से अपशिष्ट-जल की मात्रा भी कम होगी और जैविक प्रभाव प्रदूषण भी कम होगा।

कपड़ा कागज, लोहा और इस्पात तथा फलों के डिब्बाबंदी जैसे उद्योगों में पानी की खपत काफी अधिक होती है। इन उद्योगों में कम प्रदूषित जल इस्तेमाल करने से अपशिष्ट-जल की मात्रा कम करने में काफी मदद मिल सकती है। अपशिष्ट-जल से उपचार के बाद अन्य लाभकारी पदार्थ मिल सकते हैं जो अन्यथा बेकार चले जाते हैं और जल को और अधिक प्रदूषित भी कर देते हैं। कपड़े धोने का सोड़ा तैयार करने वाले संयंत्र से पारा, रेयॉन से जस्ता और उर्वरक संयत्रों से अमोनिया की प्राप्ति आदि कुछ पदार्थ हैं जिन्हें बहिस्राव से प्राप्त किया जा सकता है और प्रदूषण नियंत्रण के खर्च को कुछ हद तक पूरा किया जा सकता है।

घरेलू गंदे पानी में आमतौर पर अनेक प्रकार की अशुद्धियां तैरती हुई देखी जा सकती हैं। इसमें कंकड़-पत्थर, तेल और चिकनाई भी होती है। इन्हें यदि गंदे पानी से अलग नहीं किया गया तो नालियाँ बंद हो सकती हैं और बाद में उपचार संयंत्रों में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। इसलिए परस्पर और प्राथमिक उपचार संयंत्रों में वाहित-मल भेजने से पहले तेल की चिकनाई तथा बजरी, कंकड़-पत्थर छलनियों और जालियों आदि से अलग करना जरूरी है। कपड़े के चीथड़े, लकडी के टुकडे आदि जाली में अटक जाते हैं। तैरने वाली अशुद्धियों के आकार के अनुसार बारीक, मध्यम और चौड़े छिद्र वाली छलनियां काम में लाई जा सकती हैं। बारीक, मध्यम और चौड़े छिद्र वाली छलनियां हाथ से चलाई जाती हैं, अन्य छलनियां मशीन से चलाई जा सकती हैं। बारीक छलनियों में छिद्रों का आकार 20 मिमी. से कम और चौड़ी छलनियों के छिद्र 57-150 मिमी. तथा मध्यम आकार की छलनियों के छिद्र 25-50 मिमी. के होते हैं। अधिकतर यह छलनियां तिरछी लगाई जाती हैं। छलनियों में फंसे पदार्थ गीले होते हैं इसलिए इन्हें सुखाना जरूरी होता हैं। सुखाने के बाद इन्हें जलाया जा सकता है या किसी दूर स्थान पर गढ़ों में जमा किया जा सकता हैं।

उपचार से पहले राख, रेत, हड्डियों के टुकड़े, ईंट के चूरे आदि को गंदे पानी से अलग करना चाहिए नहीं तो यह पाइप में जमा हो जाएंगे और उपचार संयंत्रों में रुकावट पैदा करेंगें तथा निथारण टंकियों में गाद अधिक होगी। इन कंकड़-पत्थरों को अलग करने के लिए गंदा पानी एक निश्चित वेग से निथारण टंकी में छोड़ा जाता है। मोटे कण गुरुत्वाकर्षण के कारण टंकी की तली में जमा हो जाते हैं।

रसोईघर, उपाहारगृह और होटलों के गंदे पानी में अक्सर तेल और चिकनाई ऊपर तैरती है। मोटरगाड़ी उद्योग और तेलशोधक कारखानों के अपशिष्ट-जल में तेल और ग्रीज होता है। तेल और चिकनाई अलग करने के लिए अपशिष्ट-जल एक पाश (ट्रेप) से गुजारा जाता है। पानी के ऊपर तैरता तेल अलग इकठ्ठा कर लिया जाता है जिसे बाद में फेंक दिया जाता है।

प्राथमिक उपचार से भारी निलम्बित और अवसादन टंकियों (Sedimentation Tank) में नीचे बैठ जाने वाले ठोस पदार्थों को पानी से अलग किया जा सकता है। 50-60 प्रतिशत निलम्बित ठोस प्राथमिक उपचार द्वारा अलग किए जा सकते हैं। अवसादन टंकियों की तली में जमें पदार्थों को कीच (Sludge) और ऊपर के साफ पानी को निथार कहते हैं। टंकियों का कीच बाहर निकालने के लिए मशीनों का इस्तेमाल किया जाता है। कभी-कभी टंकियों में चूना और फिटकारी डाली जाती है जिससे निलम्बित ठोस तेजी से नीचे बैठ जाएं।

प्रारंभिक और प्राथमिक उपचार द्वारा अधिकांश निलम्बित ठोस अपशिष्ट-जल से पृथक हो जाते हैं। और केवल जैव पदार्थ ही बचे रहते हैं जिन्हें सूक्ष्म जीवाणुओं की सहायता से साफ कर पानी शुद्ध किया जाता है। इस प्रक्रिया को जैविक उपचार कहते हैं। कुछ सूक्ष्मजीव ऑक्सीजन की उपस्थिति में ही सक्रिय रहते हैं और कुछ ऑक्सीजन की अनुपस्थिति में भी कार्य करते हैं। सूक्ष्मजीवों के अनुसार वायवीय (Aerobic) और अवायवीय उपचार कहलाता है। वातजीवी जीवाणु जैव पदार्थ को हानिरहित पदार्थों में बदलने के लिए वायुमण्डल से ऑक्सीजन लेते हैं। निर्वातजीवी जीवाणु यह कार्य बिना ऑक्सीजन के करते हैं। वातजीवी जीवाणु अपेक्षाकृत कम समय में और तेजी से जैव पदार्थो को स्थायी तत्वों में बदल सकते हैं।

वायवीय उपचार पद्धति में सूक्ष्मजीवी के लिए ऊर्जा के रूप में शुद्ध ऑक्सीजन प्रदान की जाती है। अवायवीय पद्धति में सूक्ष्मजीव अपशिष्ट पदार्थों से ही मीथेन गैस के रूप में ऊर्जा प्राप्त करते हैं।

वायवीय उपचार पद्धति में ऊर्जा की खपत अधिक होती है और कीच भी अधिक पैदा होता है। लेकिन इसमें समय कम लगता है तथा कोई अन्य पदार्थ (उपजात) प्राप्त नहीं होता। उपचार संयंत्र काफी अधिक संवेदनशील होते हैं और इनका चलाना तथा रख-रखाव कठिन होता है।

अवायवीय उपचार पद्धति में ऊर्जा की खपत कम होती है। कीच कम पैदा होता है। लेकिन समय अधिक लगता है। इस प्रक्रिया में मीथेन गैस प्राप्त होती है। उपचार संयंत्र कम संवेदनशील होते हैं और इनका प्रचालन तथा रख-रखाव आसान होता हैं। बहुत अधिक जैव पदार्थ वाले अपशिष्ट-जल के लिए यह पद्धति उपयोगी है जबकि मामूली और सामान्य रूप से प्रदूषित अपशिष्ट-जल के लिए वायवीय पद्धति उपयोगी है। वायवीय उपचार पद्धति की अपेक्षा अवायवीय पद्धति अधिक कार्यक्षम होती है।

ऑक्सीजन ताल द्वारा अपशिष्ट-जल का उपचार वायवीय पद्धतियों से सबसे अधिक सरल और सस्ती विधि है क्योंकि उपचार की इस विधि में वातजीवी जीवाणु वायुमण्डल की ऑक्सीजन का उपयोग करते हैं। अन्य पद्धतियों में वातित्रों (Aerators) के घूमने वाले पंखों की सहायता से बाहर से ऑक्सीजन पहुंचाई जाती है। सक्रियीत अवपंक (Activated Sludge) प्रक्रिया में सूक्ष्म जीवों के माध्यम से अपशिष्ट-जल में 6-8 घंटे तर ऑक्सीजन पहुंचाई जाती हैं। इसके बाद ठोस आवसादन टंकी की तली में जमा हो जाते हैं, जिन्हें टंकी से बाहर निकाल दिया जाता हैं और ऊपर का निथरा पानी बहा दिया जाता है या अन्य कार्यों के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। यह प्रक्रिया वायु मिश्रण पर निर्भर करती है।

विस्तारित वायुमिश्रण (Extended Aeration) विधि सक्रियीत वायवीय विधि का ही संशोधित रूप है जिनमें अपशिष्ट-जल में 8 घंटे के स्थान पर 16-18 घंटे तक वायुमिश्रण की आवश्यकता होती है और बहि:स्राव भी अपेक्षाकृत अधिक साफ होता है। टपकन छन्ना (Trickling filter) तकनीक में अपशिष्ट-जल पथरीले माध्यम से टपकाया जाता है। पत्थरों पर जमी सूक्ष्मजीवी की झिल्ली की सहायता से अपशिष्ट-जल के जैव पदार्थ स्थायी पदार्थों में बदल जाते हैं। हवादार लैगून (Aerated lagoon) एक मिट्टी का कच्चा तालाब होता है जिसमें अपशिष्ट जल जमा किया जाता है और वातित्रों की सहायता से 3-4 दिन तक उसमें

वायु का संचार किया जाता है। साफ होने के बाद बहिस्राव को बहा दिया जाता है या दूसरे काम के लिए उपयोग में लाया जाता हैं।

वायु की अनुपस्थिति में जल उपचार विधि में अवायवीय छन्ना (Anaerobic Filter) सबसे आसान और सस्ती विधि है जिसके लिए किसी विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं होती । इस विधि में हाल ही में संशोधन किया गया है जिसमें अपशिष्ट-जल नीचे से ऊपर की ओर भेजा जाता है और छन्ने के ऊपर अशुद्धियों की तह (Blanket) जम जाती है। शराब की भट्टियों, चमड़े के कारखाने आदि में अपशिष्ट जल के उपचार के लिए, जिसमें जैव पदार्थों की मात्रा अधिक होती हैं, इस विधि का सफलता पूर्वक उपयोग किया जा सकता है जिसमें वायवीय उपचार से पहले अपशिष्ट-जल का अवायवीय उपचार किया जाता है।

आजकल ऐसी उपचार विधि विकसित करने के उद्देश्य से अनुसंधान किया जा रहा है जिससे ऊर्जा की खपत और पूंजी निवेश कम हो तथा जिसके लिए ज्यादा जगह की जरूरत न पड़े। इसमें वायवीय और अवायवीय द्रव माध्यम पद्धति (Fluidised Bed System) जैव चकली (Bio-Disc) चक्रीय ड्रम और रस्सियों का जैविक सम्पर्क प्रमुख हैं।

कपड़े धोने का सोड़ा, रेयॉन, विद्युतलेपन और चमड़ा उद्योग के अपशिष्ट-जल में पारा, जस्ता, क्रोमियम और सायनाइड के आयन हो सकते हैं यदि इन्हें अलग नही किया गया तो मछलियों और मनुष्य के लिए खतरा पैदा हो सकता हैं। धातुओं के इन आयनों के लिए रासायनिक उपचार की विशेष विधि अपनाई जाती है जिसमें फिटकारी, चूना, कपड़े धोने का सोडा या सोडियम बाई कार्बोनेट का प्रयोग किया जाता है। इन रसायनों की मात्रा पहले से निर्धारित कर ली जाती है। विषालु धातुएं कीच के रूप में अपशिष्ट-जल से पृथक कर ली जाती हैं। कीच सुखाकर सुरक्षित स्थान पर फेंक दिया जाता है।

सार्वजनिक जल आपूर्ति और उद्योगों की निरंतर बढ़ती मांग के कारण पानी दिन पर दिन दुर्लभ संसाधन होता जा रहा है। पानी की मांग पूरी करने के लिए घरेलू वाहित-मल या नगर का अपशिष्ट-जल जैविक उपचार के बाद शुद्ध किया जा सकता है। अपशिष्ट-जल का उपचार, उपचार के बाद उसके संभावित उपयोग पर निर्भर करेगा। यद्यपि जैविक उपचार विधि अपशिष्ट-जल से भारी मात्रा में जैविक पदार्थ अलग करने की आसान और सस्ती विधि है लेकिन, इसकी अपनी कुछ सीमाएं हैं। अपशिष्ट जल के कुल जैविक कार्बन का जैविक विधि से उपचार संभव नहीं। इस विधि से फॉस्फेट अलग करने की कुशलता पर भी संदेह किया जाता है। अपशिष्ट जल में उपस्थित फॉस्फेट के कारण झीलों में, अत्यधिक पोषण के कारण, शैवाल तथा अन्य वनस्पतियों की असाधारण वृद्धि प्रस्फुटीकरण (Eutrophication) की समस्या का सामना करना पड़ता है।

ऐसी स्थिति में अपशिष्ट-जल उपचार की उच्च तकनीकों का उपयोग किया जाता है जो मूलतः भौतिक एवं रासायनिक विधियां होती हैं। उनमें रसायनों की सहायता से अशुद्धियों को अवक्षेप के रूप में पृथक करना, बालू छन्नों से छानन सक्रियीत कार्बन से उपचार, आयन विनिमय, उत्क्रम परासरण (Reverse Osmosis) और विद्युत अपघटन आदि शामिल हैं। अपशिष्ट-जल को पीने योग्य बनाने के लिए अनेक चरणों में शुद्धिकरण की आवश्यकता होती है जिसके लिए भारी पूंजी निवेश आवश्यक है। लेकिन, जल आपूर्ति के वैकल्पिक संसाधनों का विकास इससे कहीं अधिक महंगा सौदा है।

❑ ❑ ❑

● मानव शरीर में पाये जाने वाले कुल फास्फोरस से लगभग 200 दियासलाई की तिलियों के शीर्ष बनाए जा सकते हैं, वसा से 6 साबुन की टिकियां, लोहे से 1 इंच लंबी कील बनाई जा सकती हैं।

कु. पूजा तिवारी

पशुधन विकास में जैव-प्रौद्योगिकी द्वारा भ्रूण-लिंग निर्धारण एवं चयन की संभावनाएं

डॉ. एस. एल. गोस्वामी
एवं
एस. के. दास
डेरी पशु अभिजनन प्रभाग
राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान
करनाल-132 001.

पालतू पशु प्रजनन में जब आर्थिक दृष्टि से नर या मादा में से एक का महत्व बढ़ जाये तो जनन से पूर्व लिंग निर्धारण की उपयोगिता बढ़ जाती है। अपेक्षित लिंग का निर्धारण और आवश्यकतानुसार चयन कर सकने की तकनीकों पर अनेक शोधकार्य हुए हैं। बेहतर से बेहतर तकनीकी विकास की प्रक्रिया में, अति आधुनिक जैव-प्रौद्योगिकी की संभावनाओं पर, इस लेख में चर्चा की गई है।

अधिकांश जीवों में नर एवं मादा दो प्रकार के जन्तु होते हैं। जीवों की यह विशेषता लिंग कहलाती है। लिंग का निर्धारण जीव उत्पत्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही होता है। पशु प्रजनन में संतति के लिंग के बारे में अनिश्चितता हमेशा बनी रहती है। जब किसी लिंग विशेष का आर्थिक मूल्य दूसरे से अधिक हो तो इस का महत्व और भी बढ़ जाता है। डेरी पशुओं में अधिक दूध उत्पादन हेतु मादा पशुओं का आर्थिक मूल्य निश्चय ही नर पशुओं से अधिक माना जाता है। किन्तु यदि अच्छी नस्ल के सांड़ों की संख्या में वृद्धि अपक्षित हो तो नर संतति का विशेष महत्व होगा। यदि जन्म से पूर्व ही पैदा होने वाले पशु के लिंग के बारे में ज्ञान हो जाये अथवा पशु पालकों को वांछित लिंग का पशु प्राप्त करने की सुविधा हो तो पशु उत्पादन की दृष्टि से यह एक महान उपलब्धि होगी। अतः मानव प्राचीन काल से ही प्रकृति की इस लिंग निर्धारण अथवा चयन शक्ति को प्राप्त करने को उत्सुक रहा है।

यद्यपि शुक्राणुओं के पृथक्करण द्वार लिंग चयन की कई विधियां उपलब्ध हैं। परन्तु वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कोई भी उपलब्ध विधि दोषरहित, विश्वसनीय एवं प्रभावी असर डालने में सक्षम नहीं हैं।

भ्रूण प्रतिरोषण एवं तत्सम्बन्धी प्रौद्योगिकी विकास द्वारा भ्रूण-लिंग निर्धारण की कुछ नई विधियां प्रकाश में आई हैं। पशुधन में भ्रूण प्रतिरोपण के भविष्य का आर्थिक पक्ष से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उदाहरणतया, उत्तम नस्ल की दूधारू गायों से अधिक संख्या में बछड़ियाँ अथवा पश्चिमी देशों के संदर्भ में अधिक माँस उत्पादन हेतु ज़ुडवाँ बछड़ियाँ/बछड़ों का जन्म आर्थिक दृष्टि लाभकारी होगा। परन्तु बांझ (फ्री मार्टिन) बछड़ियों के जन्म की रोकथाम के लिए प्रतिरोपण पूर्व भ्रूणलिंग निर्धारण अति आवश्यक है ताकि समलिंगी भ्रूण ही ग्राही मादा में प्रतिरोपित किये जायें। कुछ अवस्थाओं में लिंग सहवर्ती (सेक्स लिंक्ड), लिंग सीमित (सेक्स लिमिटेड) एवं लिंगाधीन (सेक्स इनफ्लूएसड) आनुवांशिक बीमारियों की रोकधाम के लिए भी लिंग निर्धारण आवश्यक है। अतः प्रतिरोपण पूर्व भ्रूण लिंग निर्धारण का अति व्यवहारिक पक्ष भी है। पशुधन विकास के उपरोक्त संदर्भ में भ्रूण लिंग निर्धारण की प्रचालित एवं नवीन विधियों की यहाँ समीक्षा की गई है।

लिंग का निर्धारण का आधार

सभी जीवधारियों में जीवन की प्रायःसभी कार्य प्रणलियों की भाति लिंग विभेदन भी कोशिकाओं के नाभकी में उपस्थित गुण सूत्रों पर ही आधारित होता है। कार्यानुसार गुणसूत्र दो प्रकार के होते हैं। अलिंग गुणसूत्र एवं लिंग गुणसूत्र। स्तनधारी मादाओं में अलिंग गुणसूत्रों के अतिरिक्त पाये जाने वाले दोनों लिंग गुण सूत्र पूर्णरूप से समान होते है और इन्हें एक्स गुण सूत्र कहा जाता है। परन्तु नर जीवों में सूत्र भिन्न होते हैं जिन्हें क्रमशः एक्स एवं वाई गूण सूत्र के नाम से जाना जाता है। परिणाम स्वरूप मादा द्वारा उत्पन्न सभी डिम्बों में एक एक्स सूत्र ही पाये जाते हैं, जबकि नर पशुओं के शुक्राणुओं की लगभग बराबर संख्या में एक्स अथवा वाई गुण सूत्र पाये जाते हैं। निषेचन प्रक्रिया में यदि एक्स गुण सूत्र वाला शुक्राणु डिम्ब में प्रवेश करे तो संतति की गुण सूत्र रचना मादा समान और यदि वाई गुणसूत्र वाला शुक्राणु डिम्ब में प्रवेश करें तो नर समान होती है। इस प्रकार स्तनधारियों में शुक्राणु के डिम्ब प्रवेश पर ही संतति का लिंग निर्धारित हो जाता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि लिंग निर्धारण की किसी भी विधि का मूलभूत सिद्धांत इन्हीं (एक्स और वाई) लिंग गुण सूत्रों की संरचना एवं कार्य प्रणाली पर ही आधारित होगा। विगत वर्षो में भ्रूण लिंग निर्धारण की निम्नलिखित प्राविधियां विकसित हुई हैं:

1. कोशिकीय विधि : लिंग रज्या (सेक्स क्रोमेटिन) अथवा लिंग गुणसूत्रों की पहचान एवं विश्लेषण द्वारा
2. प्रतिरक्षण विधिः एच.वाई प्रतिजन (एन्टीजन) की पहचान द्वारा
3. जीवन-रसायन विधिः एन्जाईम एवं हार्मोन विश्लेषण द्वारा
4. अणुजैविक विधिः वाई गुणसूत्र विशिष्ट डी.एन.ए. एषणी (प्रोब) द्वारा
5. भ्रौणिकी विधिः विददन (क्लीवेन) एवं विकास दर द्वारा

कोशिकीय विधिः

स्तनधारी मादाओं में भ्रूणावस्था में ही दो एक्स लिंग गुण सूत्रों में से एक निष्क्रिय होकर लिंग रज्या अथवा सेक्स क्रोमेटिन में परिवर्तित हो जाते हैं। लिंग रज्या एक छोटे से गहरे रंग के बिन्दु के रूप में नाभिक में दृष्टिगोचर होती हैं । सबसे पहले लिंग रज्या 4 अथवा 8 कोशिका अवस्था के भ्रूण में उपस्थित होती हैं। किन्तु कोशिका में नाभिक की दिक्स्थिति के कारण लिंग रज्या केवल कुछ प्रतिशत कोशिकाओं में ही दिखाई देती हैं। भ्रण कोशिकाओं में लिंग रज्या की उपस्थिति मादा भ्रूण की ओर संकेत करती है। गौजातीय पशुओं के भ्रूण कोशिका द्रव के कणिक होने से लिंग रज्या को देख पाना काफी कठिन है। अतः यह विधि पशुधन में भ्रूणलिंग निर्धारण के लिए व्यवहारिक नहीं है।

दूसरी कोशिकीय विधि लिंग गुण सूत्रों के विश्लेषण पर आधारित है। इस विधि में भ्रूण छेदन विधि द्वारा कुछ भ्रूणीय कोशिकाएँ निकाल कर उचित वातावरण में उष्मायित (इन्क्यूबेट) की जाती हैं। तत्पश्चात इन्हें कुछ रसायनों की सहायता से कोशिका चक्र की मध्यावस्था (मेंटाफिज़ी) में लाया जाता है। इस अवस्था में गुण सूत्रों का विकास विश्लेषण सम्भव है। राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान करनाल में चूहों के भ्रूणों पर परीक्षण करके यह विधि भली भांति विकसित की गई है। परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि चूहों के गुण सूत्रों की विशिष्ट संरचना के कारण (लिंग सूत्रों सहित सभी गुण सूत्रों का एक्रोसेन्ट्रिक होना) यह विधि लिंग निर्धारण के लिए उपयुक्त नहीं है। किन्तु यदि इस विधि का उपयोग गोजातीय एवं अन्य पशुओं पर किया जाये तो लिंग गुण सूत्रों के विशेष आकार एवं प्रकार (सारिणी-1) के कारण, यह भ्रूण लिंग निर्धारण में अत्यन्त प्रभावी सिद्ध होगी क्योंकि यह

विधि न केवल लिंग निर्धारण, अपितु सभी गुण सूत्रों के विश्लेषण की सुविधा भी प्रदान करती है।

प्रतिरक्षण विधि:

सभी नर भ्रूणों की सतह पर एक विशेष प्रतिजन (एच.वाईएन्टीजन), जिस का प्रमुख कार्य अविकसित एवं प्रारम्भिक जनन ग्रन्थि को अण्डग्रन्थि में परावर्तित करना हैं, पाया जाता है। इस प्रतिजन की संरचना प्रायः सभी जातियों में समान एवं संरक्षित हैं। एच. वाई. प्रतिजन की पहचान भ्रूण की अवस्था पर निर्भर करती है और भ्रूण की 8 कोशिकावस्था के उपरान्त आसानी से पहचानी जा सकती है। यह विदलन की सभी अवस्थाओं से मोरूला अवस्था तक पाया जाता है। किन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों से बलास्टोसिस्ट अवस्था में इसकी जांच करना अत्यन्त कठिन है। आईसोथियोसाईनेट प्रतिदीप्त रंजक के उपयोग से नर भ्रूणों में विशेष प्रकार की प्रति-दीप्ति उत्पन्न होती है। जबकि मादा भ्रूणों में प्रतिदीप्ति नहीं होती। अतः प्रतिदीप्ति के आधार पर भ्रूण लिंग का निर्धारण आसानी से किया जा सकता है। इस विधि की दक्षता लगभग 84 प्रतिशत है।

जीव रसायन विधि :

इस विधि के अन्तर्गत कुछ एक्स गुण सूत्र, संबंधित एन्ज़ाईम और विशेष हार्मोनों की मात्रा की जांच भ्रूण में की जाती है। इन एन्ज़ाइमों में जी-6 पी.डी. (ग्लूकोज़-6 फॉस्फेट डीहाईड्रोजीनेज़) एच.जी.पी.आर.टी. (हाईपो ज़ैन्थीन, गुआनीन फास्फोराईबीज़ाईल ट्रासफेरेज) फास्फोग्लिसरेट काइनेड़ प्रमुख हैं। क्योंकि इन एन्जाइमों की उत्पति एक्स गुण सूत्रों की संख्या पर निर्भर होती है फलतः इन् एन्जाइमों की मात्रा मादा भ्रूर्ण में नर भ्रूण की अपेक्षा दोगुनी होती है। भ्रूण की सोलह कोशिकीय अवस्था से बलास्टोसिस्ट अवस्था तक मादा भ्रूण में यह मात्रा अधिक पाई जाती हैं। किन्तु कई बार नर एवं मादा भ्रूण में उत्पादित एन्जाईम की मात्रा का अन्तर इतना कम होता है कि मात्रा के आधार पर लिंग निर्धारण कठिन हो जाता है। लिंग रज्या निर्माण हेतु एक एक्स गुण सूत्र का निष्क्रयण भी भ्रूण के विकास के साथ निरन्तर होता हैं। यह प्रक्रिया भी इस विधि की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगा देती हैं। भ्रूण की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कुछ एन्जाइमों की उत्पत्ति मातृक होती है अतः भ्रूण एन्जाइमों का सही आकलन नहीं हो पाता।

बलास्टोसील द्रव में हार्मोन आमापन से भी भ्रूणलिंग-निर्धारण के प्रयास किये गये हैं। किन्तु इस विधि के लिंग निर्धारण हेतु उपयोग में कई व्यवहारिक कठिनाईयां हैं। बलास्टोसिस्ट में द्रव की मात्रा बहुत कम होती है। और यदि इस द्रव का उपयोग हार्मोन

सारिणी 1 - विभिन्न पशुओं के लिंग गुणसूत्रों के आकार एवं प्रकार भेद

पशुजाति	गुणसूत्रों की संख्या	एक्स गुण सूत्र	वाई गुण सूत्र
गाय (बॉक्स इन्डिक्स)	60	बडा सब-मैटासैन्ट्रिक	छोटा एक्रोसैन्ट्रिक
गाय (बॉक्स टारस)	60	बडा सब-मैटासैन्ट्रिक	छोटा मैटासैन्ट्रिक
भैंस (ओविस बुबैलिस)	50	बड़ा एक्रोसैन्ट्रिक	छोटा एक्रोसैन्ट्रिक
भेड़ (ओविस एरिस)	54	बड़ा एक्रोसैन्ट्रिक	छोटा मैटासैन्ट्रिक
बकरी (कैपरा हिकस)	60	बड़ा एक्रोसैन्ट्रिक	छोटा मैटासैन्ट्रिक
सुअर (सॅस स्क्रोफा)	38	मध्यम मैटासैन्ट्रिक	छोटा मैटासैन्ट्रिक

आमापन के लिए किया जाये तो इसका भ्रूणीय विकास पर घातक प्रभाव होता है। इसके अतिरिक्त अभी तक इस तथ्य की भी पुष्टि नहीं हो पाई है कि नर एवं मादा भ्रूणों में उत्पन्न हार्मोन में मात्रात्मक अथवा गुणात्मक अन्तर होता हैं।

अणुजैविक विधि :

वाई गुण सूत्र विशिष्ट डी.एन.ए. एषपी (प्रोब) का उपयोग भ्रूणलिंग निर्धारण की एक नवीनतम विधि है। इसमें वाई गुणसूत्र पर उपस्थित किसी जीव विशेष की पूरक (कमप्लीमैन्ट्री) डी. एन.ए.एषपी का निर्माण कर उसे किसी प्रतिदीप्त रंजक से चिन्हित किया जाता है। क्योंकि वाई गुण सूत्र की उपस्थिति नर भ्रूण की निश्चित पहचान है, अतः ऐसी एषपी का उपयोग भ्रूण कोशिकाओं में वाई गुण सूत्र की पहचान के लिए किया जाता है। पॉलीमरेज श्रृंखला अभिक्रिया (पी.सी.आर) द्वारा मात्र एक अथवा दो भ्रूण कोशिकाओं के डी.एन.ए. की मात्रा में कई गुना वृद्धि से इस विधि की दक्षता और भी बढ़ गई है। इस विधि से लगभग 95 प्रतिशत सफल भ्रूण लिंग निर्धारण की संभावनायें दर्शायी गयी हैं।

भ्रौणिकी विधि :

वाई गुण सूत्र का अपेक्षाकृत लघु आकार होने से नर भ्रूण कोशिकाओं में डी.एन.ए. की मात्रा मादा कोशिकाओं से किंचित कम होती है। अधिक मात्रा में डी.एन.ए. की पुनरावृत्ति (रैपलीकेशन) के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है। फलतः कोशिका चक्र की अवधि भी बढ़ जाती है। इसी तथ्य के आधार पर भ्रूणों के विदलन (क्लीवेज) एवं परिवर्धन की जांच करने पर पाया गया कि नर भ्रूणों में विदलन अपेक्षाकृत अधिक होता है। परिणामस्वरूप नर भ्रूण शीघ्र ही मोरूला एवं बलास्टोसिस्ट प्रावस्था प्राप्त करते हैं। यद्यापि इस विधि का उपयोग अन्तः पशु (इनविवो) उत्पन्न भ्रूणो पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसे भ्रूणों की विदलन गति की सही जांच नहीं हो सकती, किन्तु अन्तःपात्र (इनविट्रो) में उत्पन्न भ्रूणों पर यह विधि प्रयोग की जा सकती है। क्योंकि इस विधि का उपयोग नर एवं मादा भ्रूणों के विदलन और परिवर्धन दर के अन्तर पर निर्भर करता है, इस अन्तर के आकलन हेतु विशेष प्रशिक्षण, अनुभव और निपुणता की आवश्यकता होती हैं।

एक सामान्य भ्रूणलिंग निर्धारण विधि के सही होने के साथ-साथ इसके उपयोग से भ्रूण के हिमीकरण, प्रतिरोपण एवं वांछित लिंग की संतति के रूप में विकास की क्षमता पर विपरीत प्रभाव नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त व्यवहारिक रूप से वही विधि सक्षम मानी जाएगी जिसकी कम लागत व सटीकता में सन्देह न हो। व्यवहारिकता के मापदण्डों पर परखने से ऐसा प्रतीत होती है कि कोशिकीय एवं अणुजैविक विधियाँ ही प्रभावी हैं किन्तु ये भ्रूण को क्षतिग्रस्त करती हैं यद्यपि परिवर्धन की प्रारम्भिक अवस्था में भ्रूण इस क्षति के बावजूद सामान्य रूप से विकसित होने में सक्षम होता है अतः इस विधि से न केवल लिंग निर्धारण अपितु सम्पूर्ण गुणसूत्रीय विश्लेषण भी संम्भव है। आशा की जाती है कि वाई डी.एन.ए. एषजी तकनीक लिंग निर्धारण हेतु एक सरल, सस्ती, सुचारू एवं सुप्रभावी विधि सिद्ध होगी।

❑ ❑ ❑

● दांत वाली व्हेल के सभी दांत एक समान होते हैं। अन्य किसी भी स्तनधारी के सभी दांत समान नहीं होते हैं। हांथीदांत वास्तव में इनसाइज़र्स होते हैं जो जीवनपर्यन्त बढ़ते रहते हैं। नर जंगली सुअरों के बडे बडे दांत कैनाइन होते हैं।

कु. पूजा तिवारी

आण्विक जीवविज्ञान के क्षेत्र में अति उपयोगी कुछ तकनीकें

डॉ. अशोक कुमार
आण्विक जीव विज्ञान एवं कृषि प्रभाग
भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र,
बम्बई-400 085

'पॉलीमरेज श्रृंखला प्रतिक्रिया'

किसी भी कोशिका की संरचना, क्रियाकलाप एवं आनुवांशिक लक्षणों की सूचना कोशिका के अन्दर केन्द्रक में स्थित डी.एन.ए. में अंकित होती है। मानव कोशिका में पाये जाने वाला डी.एन.ए. लगभग 3 अरब डीआक्सी-न्यूक्लियोटाइड बेस युग्मों से मिलकर बना होता है। डी.एन. ए. पर किसी एक प्रोटीन की संरचना के लिए आवश्यक सूचना डीआक्सी-न्यूक्लियोटाइड बेस युग्मों के निश्चित क्रम में लगे हुए समूह के रूप में होती है जिसे 'जीन' कहते हैं। इस प्रकार अनुमानतः 50-100 हजार प्रकार के जीन्स मानव डी.एन.ए. में पाये जाते हैं। हम एक कोशिका में मिलने वाले डी.एन. ए की तुलना एक ऐसी पुस्तक से कर सकते हैं जिसमें कोशिका की संरचना, कार्यप्रणाली एवं आनुवांशिकी से सम्बन्धित सम्पूर्ण सूचना उपलब्ध है। इस पुस्तक में करीब 10 लाख पृष्ठ हैं। यह पुस्तक ऊंचाई में करीब 100 मीटर स्थान लेगी तथा इसमें अधिकतर पृष्ठ एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। कोशिका के विभाजन के समय इस पुस्तक में अंकित सारी सूचनाएं समरूपी दूसरी कोशिका का निर्माण करती हैं। इस प्रक्रिया में एक अक्षर की गलती चाहे वह एक ही पृष्ठ पर हो, रोग या मृत्यू का कारण हो सकती है। वैज्ञानिक विभिन्न प्रकार के प्रयोगों द्वारा यह जानने में व्यस्त हैं कि इस पुस्तक में कोई सूचना कहाँ अंकित है तथा किस अक्षर या अक्षर समूह की अपभ्रंषता के कारण किसी रोग का जन्म हो रहा है। इस प्रयास में मुख्य बाधायें जीन्स के विशाल समूह एवं आकार के कारण आती हैं।

डॉ. मुलिस

डॉ. मुलिस की उम्र 48 वर्ष है। उन्होनें 1972 में बायोकेमिस्ट्री में Ph.D. की। तत्पश्चात् उन्होंने यूनिवर्सिटी आफ केन्सास मेडिकल स्कूल और यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया, सेन फ्रांसिसको में पोस्ट डॉक्टरल ट्रेनिंग प्राप्त की। उसके बाद सीट्स कारपोरेशन में काम किया जहाँ उन्होंने पालीमरेज चेन रिएक्शन (पी.सी.आर.) का अविष्कार किया। वर्ष 1986 मे वह एक दूसरी प्राइवेट कम्पनी जाईट्रॉनिक्स, इनकोरप. में आण्विक जीव विज्ञान के निदेशक के पद पर नियुक्त हुये। आजकल वह लाजोला, कैलीफोर्निया में पी.सी.आर. एवं न्यूक्लिक एसिड कैमिस्ट्री के क्षेत्र में एक स्वतंत्र एवं निजी सलाहकार की तरह कार्यरत हैं। 1992 में गैर्डनर फाउन्डेशन आफ कनाडा ने उन्हें गैर्डनर अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार तथा 1993 में फिलेडेल्फिया सिटी ने जॉन स्काट पुरस्कार से सम्मानित किया।

डॉ. माइकल स्मिथ

डॉ. माइकल स्मिथ की उम्र 61 वर्ष है। उनका जन्म ब्रिटेन में हुआ। वह आजकल ब्रिटिश कोलम्बिया यूनिवर्सिटी, कनाडा में कार्यरत हैं।

इस समस्या का समाधान डॉ. कैरी मुलिस ने पोलीमरेज श्रृंखला प्रतिक्रिया के रुप में खोज निकाला जिसके लिए उन्हें डॉ. माईकल स्मिथ के साथ वर्ष 1993 के नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। पॉलीमरेज श्रृंखला प्रतिक्रिया, जिसे पी. सी. आर. के नाम से भी जाना जाता है, का विचार डॉ. मुलिस को बड़े ही रोचक ढ़ंग से आया। वर्ष 1983 की एक शुक्रवार की चांदनी रात में जब वह उत्तरी केलीफोरनिया की रेडवुड काउंटी की पहाड़ियों में अपनी कार के स्टीयरिंग व्हील को कसकर पकड़कर चला रहे थे। तब अचानक ही ऐसा विचार जिसने पी. सी. आर. तकनीक को जन्म दिया, उनके मस्तिष्क में आया। पी. सी. आर की खोज के पूर्व कोशिका के डी.एन.ए. में से किसी निश्चित भाग का अध्ययन करना बहुत मुश्किल होता था एवं उसमें अत्यधिक समय लगता था। जैसा कि पहले कहा कि अगर एक 100 मीटर ऊँची पुस्तक में से किसी एक पृष्ठ एवं उस पर पाये जाने वाली सूचना का अध्ययन करना हो तो कितना मुश्किल होगा! पी. सी. आर. के माध्यम से यह कार्य अत्यधिक आसान हो गया है। इस तकनीक के संबंध में प्रथम प्रकाशन 1985 में हुआ। थोड़े ही समय में इस तकनीक की वैज्ञानिक लोकप्रियता बहुत बढ़ गई एवं वर्ष 1989 में ही अमेरिकन एसोशिएशन फॉर द एडवांसमेन्ट ऑफ साइंस ने पी. सी. आर तकनीक एवं उसमें प्रयोग में लाये गये एन्जाइम को वर्ष 1989 का 'वार्षिक अणु' घोषित किया।

पी. सी. आर. तकनीक द्वारा आण्विक जीवविज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। ऐसी कोई भी आण्विक जीव विज्ञान की प्रयोगशाला नहीं मिलेगी जहाँ पी. सी. आर. का प्रयोग न किया जा रहा हो। आज इस तकनीक के माध्यम से यह संभव हो गया है कि दसवीं कक्षा के छात्र वह प्रयोग कर सकें जिनको 15 वर्ष पूर्व करने से पी. एच. डी. की डिग्री मिल जाती थी।

इस तकनीक के आविष्कार में पूर्व आविष्कारित तकनीक जिसमें डी.एन.ए. के छोटे छोटे टुकड़ों, जिन्हें आलिगोन्यूकिलोटाइड कहते हैं, को रासायनिक क्रिया बना पाना, का महत्वपूर्ण योगदान रहा। किसी भी प्रोटीन के कुछ अमीनों अम्ल या उसके डी.एन.ए. का थोड़ा सा क्रम पता होने से ही उस डी.एन.ए. की करोड़ों प्रतिलिपियां थोड़े ही समय में बना पाना संभव हो सका है।

इस तकनीक में मुख्य रूप से तीन प्रकार के रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। प्रथम, चार प्रकार के डीआक्सीन्यूक्लिटाइड्स की जो कि डी. एन.ए. के निर्माण की इकाई होते हैं, द्वितीय, डी.एन.ए. की प्रतिलिपि तैयार करने की क्रिया को सम्पन्न करता है एवं तृतीय, आलीगोन्यूक्लिटाइड प्राइमरस् की आवश्यकता होती है।

चित्र-1 में यह क्रिया प्रदर्शित की गई है।

टेम्पलेट डी.एन.ए., डी आक्सीन्यूकिलोटाइड्स, डी. एन. ए. पॉलीमरेज, एवं आलीगोन्यूकिलोटाइड्स प्राइमरस् का सही मात्रा में मिश्रण बनाकर थर्मल साईक्लर नामक उपकरण में रखकर 90-94° सेन्टीग्रेड तक गर्म किया जाता है। इस चरण को डिनेचरेशन चरण कहते हैं। इसमें डी.एन.ए. के दोनों स्ट्रेन्डस् जो कि पहले हाइड्रोजन बंधन द्वारा जुड़े होते हैं, अलग अलग हो जाते हैं। द्वितीय चरण में जिसे तापानुशीतन चरण कहते हैं, इस मिश्रण को 35-50° सेन्टीग्रेड तक ठंडा किया जाता है। इस चरण में आलीगोन्यूकिलोटाइट प्राइमरस्, डी.एन.ए. के उस भाग से लग जाते हैं जिसे पी.सी.आर. द्वारा कॉपी करना होता है। तृतीय चरण जिसे एक्सटेंशन चरण कहते है, 72° सेन्टीग्रेड पर सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार आलीगोन्यूकिलोटाइड प्राइमर 3' शीर्ष पर डीआक्सीन्यूकिलोटाइडस् के टेम्पलेट डी.एन.ए. के अनुक्रम के अनुसार लगने से डी.एन.ए. की प्रतिलिपि का निर्माण होता है। इसी प्रकार ये तीनों चरण क्रमानुसार एक चक्र रूप में चलते रहते हैं और 2-3 घंटे में डी.एन.ए. की करोड़ों प्रतिलिपियाँ तैयार हो जाती हैं। इस डी.एन.ए. को विभिन्न अनुप्रयोगों में प्रयोग में

लाकर उस 'जीन' के हिस्से में अंकित सूचनाओं का ज्ञान होता है। इस तकनीक की अनेक उपयोगिताओं में से कुछ निम्न है :

1. आनुवांशिक रोगों का पता लगाना (जैसे सिकल सेल एनीमिया आदि।
2. इस तरह के रोगकारक जीवाणुओं का पता करना जिनको प्रयोगशाला में आसानी से प्रजनन नहीं किया जा सकता है जैसे तपेदिक, एड्स आदि।
3. कैंसर की जाँच एवं अनुसंधान।
4. जींस की संरचना एवं गतिविधियों का अध्ययन।
5. फोरेन्सिक प्रयोगशाला में अपराधियों की पहचान हेतु किए जाने वाले परीक्षण।
6. बच्चे की माता पिता की पहचान
7. अंग प्रतिरोपण में अंग समता के लिए परीक्षण हेतु।
8. जैविक विकास स्थापित करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयोग।

पी.सी.आर. में हजारों वर्ष पुराने अस्थि, मृत शरीर या जीवाश्म से प्राप्त डी.एन.ए. को भी प्रयोग में लाया जा सकता है।

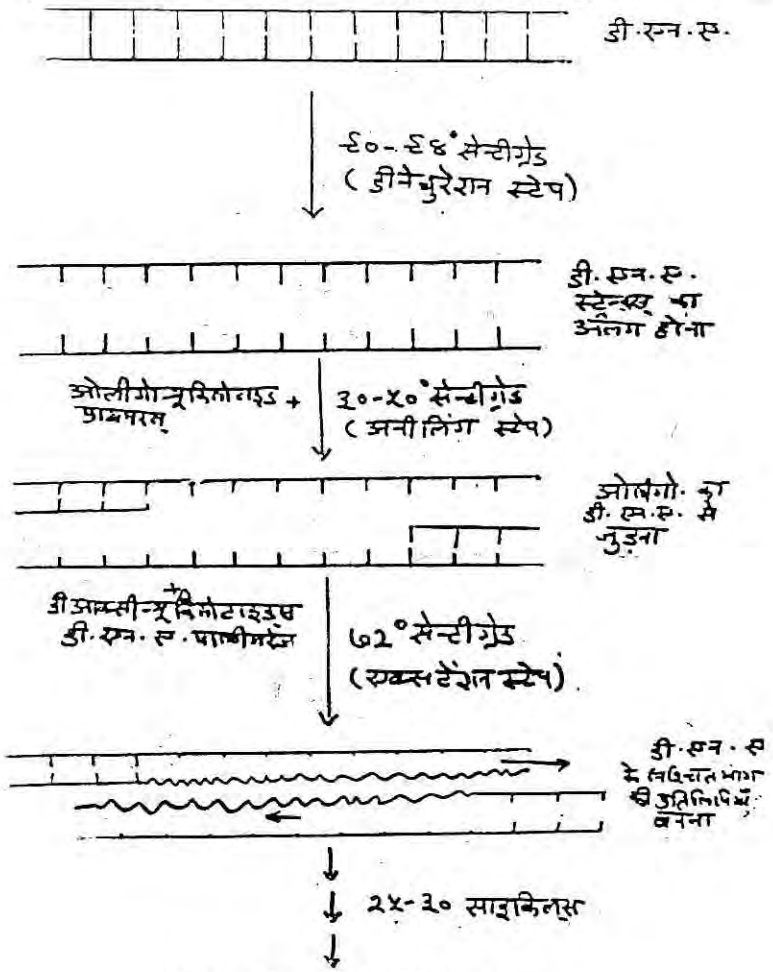

पॉलीमरेज चेन रिएक्सन (पी.सी.आर)

साइट डायरेक्टेड म्यूटाजनेसिस

डॉ. माइकल स्मिथ को नोबेल पुरस्कार डी.एन.ए. के डीआक्सीन्यूकिलोटाइड्स में इच्छानुसार उत्परिवर्तन लाने वाली तकनीक साइट डायरेक्टेड म्यूटाजनेसिस के लिए दिया गया। डॉ. स्मिथ को इस तकनीक को खोजने का विचार एक दिन कॉफी पीते समय आया। इस तकनीक पर प्रथम प्रकाशन वर्ष 1978 में हुआ। इस खोज ने वैज्ञानिकों को डी.एन.ए. को उत्परिवर्तित करके किसी भी प्रोटीन की संरचना को बदलकर अध्ययन करने की क्षमता प्रदान की। इसके द्वारा डी.एन.ए. के किसी भी हिस्से में किसी भी निर्धारित न्यूकिलोटाइड को जोड़ा, घटाया या बदला जा सकता है। इस आविष्कार से पूर्व वैज्ञानिकों को स्वेच्छानुसार डी.एन.ए. में उत्परिवर्तन लाने की क्षमता नहीं थी। अधिक से अधिक रासायनिक पदार्थों या विकिरण विधियों से परिवर्तन ला सकते थे जिसके फलस्वरुप डिआक्सीन्यूकिलोटाइड्स में जहाँ तहाँ परिवर्तन आते थे। परन्तु ये उत्परिवर्तन पूर्व निर्धारित न होने से वैज्ञानिक को सारे उत्परिवर्तित अणुओं में से वांछित परिवर्तन छाटने के लिए प्रयास करना होता था जिसमें काफी समय लगता था। अनेक बार फिर भी ऐसे उत्परिवर्तन नहीं मिल पाते थे जिनसे किसी वैज्ञानिक

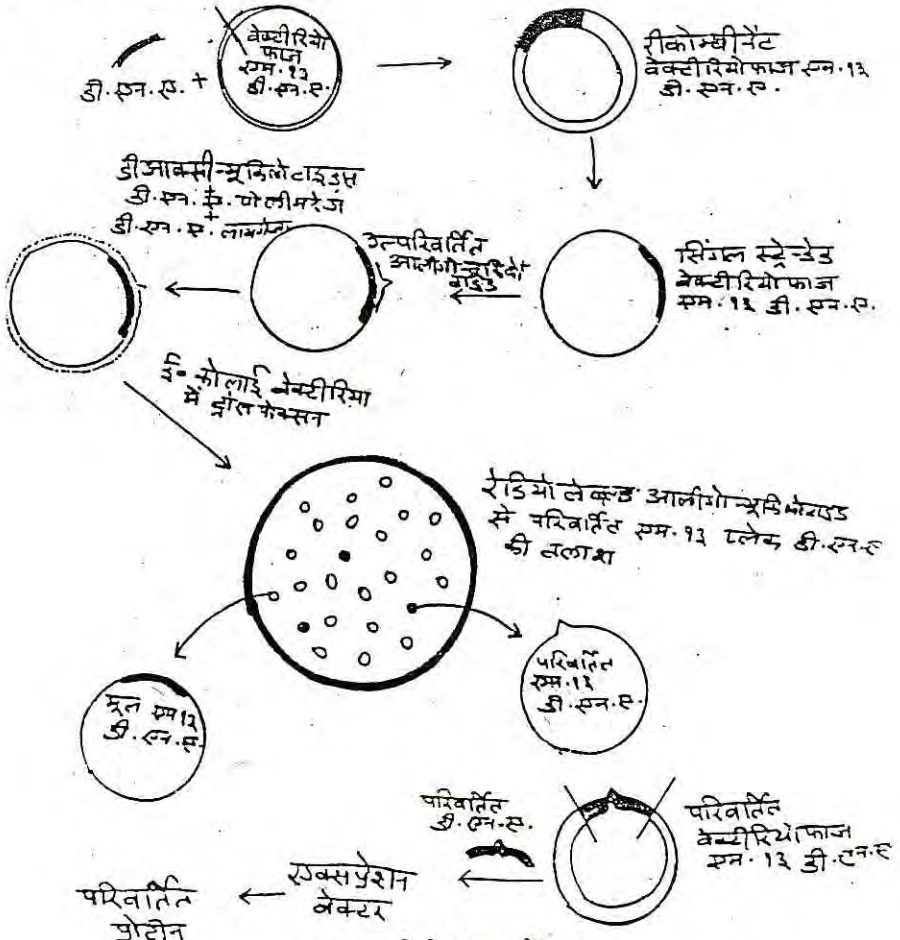

साइट डायरेक्टेड म्यूटाजनेसिस

प्रश्न पर प्रकाश डाला जा सके। साइट डायरेक्टेड म्यूटाजनेसिस के माध्यम से इस समस्या का समाधान निकला तथा पूर्व निर्धारित बिंदु पर डी.एन.ए. को बदलकर कस्टमाइज्ड प्रोटीन बनाने की विधि मिली।

साइट डायरेक्टेड म्यूटाजनेसिस की क्रिया के विभिन्न चरणों को चित्र-2 में दर्शाया गया है।

सर्वप्रथम डी.एन.ए. को बेक्टीरियोफाज एम. 13 वेक्टर में जोड़ कर डबल स्ट्रैन्डेड रिकोम्बीनेट डी.एन.ए बना लिया जाता है। इस रिकोम्बीनेंट बेक्टीरियोफाज के प्रजनन से सिंगल स्ट्रैन्डेड रिकोम्बीनेंट डी.एन.ए. मिलता है। अगले चरण में एक ऐसे आलीगोन्यूकिलोटाइड को रासायनिक क्रिया द्वारा बना लिया जाता है जिसमें किसी एक या अधिक निश्चित डीआक्सीन्यूकिलोटाइड को मूल डी.एन.ए. की अपेक्षा में बदल दिया गया हो। इस उत्परिवर्तित आलीगोन्यूकिलोटाइड को सिंगल स्ट्रैन्डेड रिकोनबीनेंट बेक्टीरियोफाज डी.एन.ए. के साथ संकरित (हाइब्रिडाइज) कराते है। अगले चरण में डी.एन.ए पालीमरेज एन्जाइम द्वारा द्वितीय स्ट्रेंड की संरचना की जाती है। इस उत्परिवर्तित डबल स्ट्रैडेड डी.एन.ए. को ई. कोलाई बेक्टीरिया में ट्रांसफेक्ट करते हैं। इस प्रकार मिलने वाले बैक्टीरियोफाज प्लेकस् को रेडियोलेबल्ड उत्परिवर्तित आलीगोन्यूकिलोटाइड से स्क्रीन करके उत्परिवर्तित डी.एन.ए. प्लेकस् को उठा लेते हैं। अगले चरण में इस उत्परिवर्तित बेक्टीरियोफाज डी.एन.ए. से उत्परिवर्तित डी.एन.ए. को बेक्टीरियोफाज डी.एन.ए से रेस्ट्रिक्सन एण्डोन्यूकिलोएज की सहायता से अलग कर लेते हैं। इस उत्परिवर्तित डी.एन.ए. को एक्सप्रेशन वेक्टर में जोड़ा जाता है एवं उससे नयी प्रोटीन बनायी जा सकती है जो कि मूल प्रोटीन से उत्परिवर्तित बिंदु पर अलग होती है।

इस तकनीक का आण्विक जीव विज्ञान, प्रोटीन इंजीनियरी के अलावा औद्योगिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ऐसे नये एन्जाइमस् बनाये जाने की क्षमता प्राप्त हुई है जो कि औद्योगिक क्षेत्र में अधिक उपयोगी साबित हुए हैं। इस तकनीक का प्रयोग ऐसी एन्टीबॉडीज बनाने में किया जा रहा है जो कैंसर को बढ़ने से रोक सकें। ऐसे रक्त तुल्य पदार्थों के बनाने में भी इस तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है जिससे मानव रक्त की कमी पूरी की जा सके।

❑ ❑ ❑

कुछ फूल कुछ कांटे

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद की बहुचर्चित पत्रिका 'वैज्ञानिक' के अक्टूबर- दिसम्बर 1993 के अंक में मेरा लेख 'सिन्क्रोट्रान विकिरण....' प्रकाशित करने तथा इस अंक की एक प्रति मुझे अवलोकन हेतु भेजने के लिए मैं आप का आभारी हूँ। इस अंक के सभी लेख उच्चकोटि के तथा काफी रोचक लगे। 'वैज्ञानिक' परिवार के सभी सदस्य बधाई के पात्र हैं। छपाई में कुछ गलतियाँ मेरे लेख के साथ साथ दूसरे लेखों में भी साफ नज़र आती हैं। प्रकाशन पूर्व लेखक को यदि प्रूफ उपलब्ध करवाया जा सके तो इस तरह की गलतियोंसे बचा जा सकता है। प्रूफ उपलब्ध कराना, खासकर भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के लेखकों को, मुश्किल कार्य नहीं है।

14-2-94

आ. प्र. मिश्र
वर्णक्रमदर्शिकी प्रभाग, भा.प.अ. के.
बम्बई- 400 085.

आपके लेख में छपी गलतियाँ किन्ही कारणों से छपाई के दौरान रह गयी, न कि प्रूफ रीडिंग के कारण । गलतियों के लिए हमें अत्यन्त खेद है। इन्हें भूल - सुधार के अंतर्गत पृष्ठ 53 पर स्पष्ट किया गया है। (सं.)

'वैज्ञानिक' का अक्तूबर-दिसम्बर' 1993 अंक मिला, धन्यवाद। मेरा रचनात्मक सहयोग निरंतर आपके साथ है। मुझे इस बात का गर्व है कि 'वैज्ञानिक' भारत की एक अतिविशिष्ट विज्ञान पत्रिका है। निसंदेह इसका सानी नहीं है। आप विद्वजनों के सहयोग और परिश्रम से ही इस पत्रिका की विशिष्टता बरकरार है।

8-2-94

डॉ. सीताराम सिंह 'पंकज'
विभागाध्यक्ष-प्राणी विज्ञान
के. एस. आर. कॉलेज, सरायरंजन
समस्तीपुर-848 127.

बाल विज्ञान

1. आकाश बैंगनी क्यों नहीं दिखाई देता है?

डॉ. श्याम लाल धीमान, प्रवक्ता भौतिकी,
द्वारा डॉ. बी.एस.रावत,
राजकीय चिकित्सालय के पीछे,
कोटद्वार (गढ़वाल) - 246149

आकाश का नीला दिखाई देना प्रकाश के प्रकीर्णन पर निर्भर करता है। प्रकीर्णन भी परावर्तन व विवर्तन का ही मिला-जुला रूप होता है। इन्हीं परिघटनाओं के कारण प्रकाश द्वितर जाता है। प्रकाश का प्रकीर्णन या द्वितरना सभी रंगों के प्रकाश के लिए एक समान नहीं होता है यह निम्न बातों पर निर्भर करता है;

1 प्रकाश की तरंग लम्बाई, तथा

2. सौर प्रकाश में ऊर्जा वितरण

प्रकाश की तरंग लम्बाई जितनी कम होती है उतना ही उस प्रकाश का प्रकीर्णन अधिक होता है। यह प्रकीर्णन तरंग लम्बाई की चतुर्थ घात के व्युत्क्रमानुपाती होता है। इस प्रकाश में बैंगनी प्रकाश का प्रकीर्णन अधिकतम और लाल प्रकाश का प्रकीर्णन

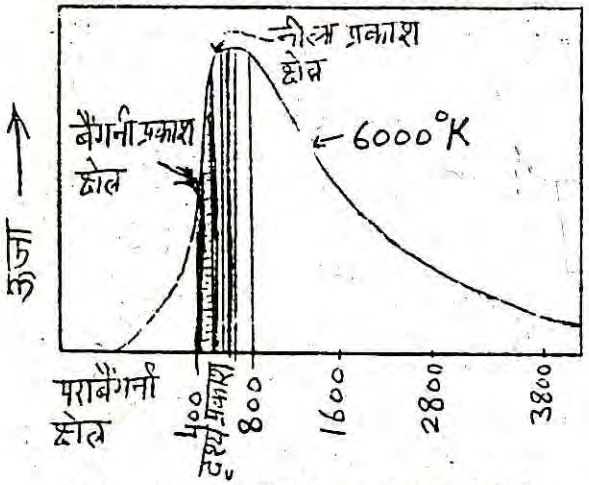

चित्र-1. सौर प्रकाश में नीले प्रकाश की ऊर्जा बैंगनी प्रकाश की ऊर्जा से अधिक होती है
(10 एंगस्ट्रम = मिली माइक्रोन = 10^{-9} मी.)

न्यूनतम होता है। इस कारण से आकाश को बैंगनी दिखाई देना चाहिये। परन्तु द्वितीय कारण से हमें यह देखना पड़ेगा कि सौर प्रकाश में बैंगनी प्रकाश सापेक्षतया कितना है। चित्र-1 में सौर प्रकाश का ऊर्जा वितरण विभिन्न प्रकाश तरंगों के लिए दिखाया गया है। वक्र में ऊर्जा का शिखर मान 4700 एंगस्ट्रॉम तरंग लम्बाई के लिए है। यह तरंग लम्बाई नीले प्रकाश की होती है।

चित्र से स्पष्ट है कि सौर प्रकाश में नीले प्रकाश की अधिकता होती है जबकि बैंगनी प्रकाश की मात्रा काफी कम होती है। इसी प्रकार हरे, पीले, नारंगी एवं लाल प्रकाश के लिए भी यह मात्रा कम होती है। चित्र में बैंगनी एवं नीले प्रकाश की ऊर्जा पट्टियों के क्षेत्रफल से निर्दिष्ट की गयी हैं। अतः स्पष्ट है कि सौर प्रकाश में नीले प्रकाश की अधिकता होने से भी नीले प्रकाश का प्रकीर्णन अधिक होता है।

इतना ही नही हमारी आँखें जो 5500 एंगस्ट्रॉम तरंग लम्बाई यानी कि हरे-पीले प्रकाश के लिए अधिक सुग्राहक होती हैं, उपरोक्त परिघटना में सहायता करती हैं। चित्र-2 में विभिन्न प्रकाश तरंगों के लिए आँख की सुग्राहकता को सापेक्ष स्तर में दर्शाया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि नीले प्रकाश के सापेक्ष बैंगनी प्रकाश आँखों के लिए कतई सुग्राहक नहीं होता है। चूंकि आंखों की सुग्राहकता नीले रंग के प्रकाश के लिए काफी अधिक होती है, इसलिए भी आकाश बैंगनी न दिखाई देकर नीला दिखाई देता है। एक बात और है, प्रकीर्णन की परिघटना अधिक प्रभावी

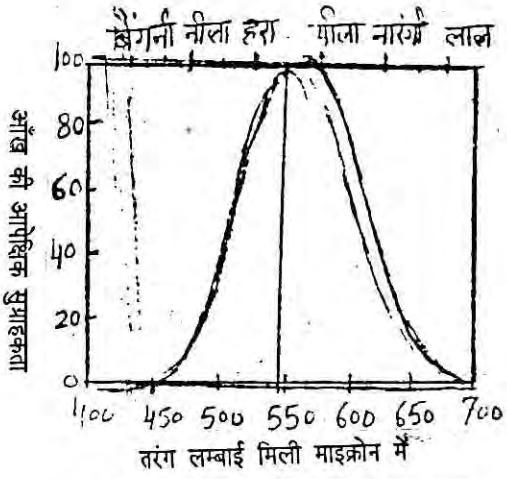

चित्र-2. आँख की सुग्राहकता विभिन्न प्रकाश तरंगों के लिए

तब होती है जब कणों (अणु, परमाणु) का आकार प्रकाश की तरंग लम्बाई के क्रम का हो। यही कारण है कि स्वच्छ आकाश अधिक नीला दिखाई पड़ता हैं, जबकि धूल भरे वायुमंडल के कारण यह कुछ सफेद सा दिखाई पड़ता है। ऐसा धूल कणों के अधिक बड़े आकार के कारण होता है। ध्यान रहे बड़े आकार वाले कण प्रकाश का केवल परावर्तन करते हैं और इस परावर्तन में सभी प्रकाश घटक समान रूप से परावर्तित होते हैं। इस प्रकार, आकाश कुछ सफेद सा दिखाई देने लगता है।

❑❑❑

2. क्या चलनी पानी रोक सकती है?

चलनी में भी पानी रोका जा सकता है। है न आश्चर्य की बात! ऐसा करना केवल भौतिकी के ज्ञान से ही संभव है। भौतिकी में एक परिघटना आती है, पृष्ठ तनाव। पृष्ठ तनाव द्रवों का ऐसा गुण होता है जिसके कारण द्रवों की सतह झिल्ली की तरह तनी रहती है। इसी गुण के कारण पानी चलनी में टिका रह सकता है।

चलनी में पानी रोकने के लिए यह आवश्यक है, कि पहले चलनी की जाली को पिघले मोम में डुबा लिया जाये। परन्तु चलनी बारीक छेद वाली लेनी चाहिये। मोम के सूखने के पश्चात जाली पर एक पर्त सी जम जाती है जो प्रयत्न करने पर ही दिखाई पड़ती है। अब यदि चलनी में सावधानी से कीप द्वारा पानी डाला जाये तो चलनी में पानी काफी ऊँचाई तक भरा जा सकता है। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है चलनी पर किसी प्रकार का धक्का नहीं लगाना चाहिये अन्यथा पानी नीचे गिर सकता है। अब हम इस परिघटना के लिए आवश्यक गणित द्वारा चलनी में पानी की ऊँचाई का परिकलन करते हैं।

मान लीजिये मोम की पर्त चढ़ जाने पर चलनी की जाली में छेद का आकार लगभग वृत्ताकार हो जाता है और उसकी त्रिज्या एक चौथाई मिलीमीटर के बराबर होती है। अब हम निम्न सूत्र द्वारा चलनी में पानी की ऊँचाई जात कर लेते हैं–

$$\text{पीनी की ऊँचाई} = \frac{2 \times \text{पृष्ठ घनत्व}}{\text{त्रिज्या} \times \text{घनत्व} \times \text{गुरुत्वीय त्वरण}}$$

$$= \frac{2 \times 73 \text{ डाइन/सेमी}}{0.025 \text{ सेमी} \times 1 \text{ ग्रा/सेमी}^3 \times 980 \text{ सेमी/से}^2}$$

$$= 6 \text{ सेमी}$$

यहाँ पानी के लिए पृष्ठ तनाव का मान 20° सेंटीग्रेड पर लिया गया है। इस प्रकार, चूंकि चलनी में पानी की ऊँचाई उसमें छेद के आकार पर निर्भर करती है, अतः छेद की त्रिज्या यदि और भी कम कर दी जाये तो पानी की ऊँचाई 6 सेमी. से भी अधिक होगी।

चलनी में पानी डालने से चूंकि छेदों पर गोलाईयुक्त पृष्ठ बन जाता है। अतः इसमें अतिरिक्त पृष्ठ ऊर्जा का संचय हो जाता है। ऊर्जा का यह संचय बाह्यकार्य द्वारा आंशिक रूप से किया जाता है। शेष कार्य चलनी में पानी की स्थितिज ऊर्जा एवं

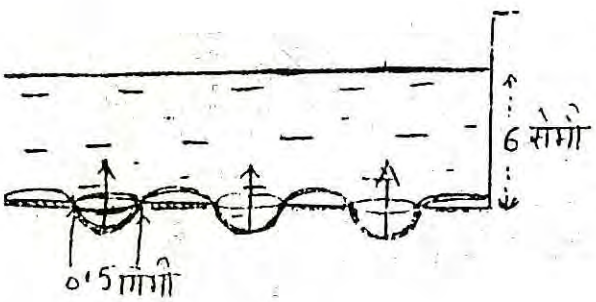

चित्र – मोम सी भीगी चलनी में पानी कैसे रुक जाता है।

उसकी ऊपरी सतह की पृष्ठ ऊर्जा में रूपान्तरित हो जाती है।

अब आपका स्वाभाविक प्रश्न हो सकता है कि हम चलनी को मोम द्वारा क्यों उपचारित करते हैं। क्या बिना मोम के काम नहीं चल सकता? इसका उत्तर आसंजक बल में निहित है। वास्तव में उपरोक्त उदाहरण में मोम ही ऐसा कारक है जिसके कारण चलनी में पानी रुक जाता है। मोम और पानी एक दूसरे से चिपकते नहीं, जबकि लोहे की जाली (चलनी में) और पानी चिपकते हैं। इसका अर्थ हुआ कि मोम और पानी के अणुओं के बीच आसंजक बल लोहे और पानी के बीच आसंजक बल से काफी कम हुआ। इसी प्रकार तैलीय सतह को भी पानी गीला नहीं करता।

उपरोक्त प्रकार की चलनी से केवल पानी ही नहीं रोका जा सकता, उसे नाव की तरह भी प्रयुक्त किया जा सकता है। यदि हम चलनी के भार को नगण्य मान लें तो चलनी रूपी नाव में 60 किग्रा भार वाले व्यक्ति को ढोने के लिए उसके आधार को एक वर्गमीटर से भी अधिक का होना चाहिए। यह तथ्य इस बात पर आधारित है कि नाव जितने दाब पानी को दबाती है, पानी भी नाव को उतने ही दाब से नाव को ऊपर की ओर उठाता है। चिपकने या भीगने से बचाने के लिए ही नावों और पीपों पर कोलतार पोतना, ठेपी और कागों पर तैलीय पदार्थ लगा देना, तैलरंगों से रंगना आदि क्रियायें की जाती हैं।

❑ ❑ ❑

(पृष्ठ 8 का शेष)

इन साक्ष्यों के अतिरिक्त भारतीय प्लेट के प्रवाह के कई प्रमाण मिलते हैं। एम.ए.उत्तरार्द्ध भूगोल के भौगोलिक पर्यटन के दौरान लेखक का वाडिया इन्सटिट्यूट आफ हिमालयन ज्योलाजी, देहरादून के वरिष्ठ भूगर्भविद डा. के. के. शर्मा के साथ एक साक्षात्कार हुआ जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि प्लेट विवर्तिनिकी के कारण शिवालिक श्रेणी के दक्षिण स्थित तराई से भविष्य में एक श्रेणी और अस्तित्व में आ सकती है। तराई क्षेत्र में विभिन्न नदियों द्वारा तीव्र गति से अवसादन हो रहा है जहाँ अवसाद भार से तराई क्षेत्र का अधोगमन हो रहा है। भूगर्भशास्त्रियों ने सहारनपुर जिले में मोहन्द स्थान पर एक भ्रंशन (फाल्ट) का पता लगाया है जिसे फ्रन्ट फाल्ट (Front Fault) कहा जाता है। यह तराई पेटी के धंसाव का परिणाम है।

❑ ❑ ❑

● जिराफ की ग्रासनी (Oesophagus) की लंबाई समस्त स्तनधारियों में सर्वाधिक होती है। ऊंटों के आमाशय में ओमैज़म नामक खण्ड नहीं होता है।

कु. पूजा तिवारी

टिप्पणियां

1. भूकम्प प्रतिरोधी अभिकल्पन के कुछ पहलू

सन 1990 से प्रारम्भ हुए इस दशक को संयुक्त राष्ट्र संघ ने प्राकृतिक आपदाओं में कटौती का अन्तर्राष्ट्रीय दशक घोषित किया है। प्राकृतिक आपदाओं में भूकम्प, बाढ़ तथा चक्रवाती तूफान आदि गिने जाते हैं। इन विनाशकारी शक्तियों में भूकम्प का स्थान प्रमुख है। भूकम्प की तीव्रता मापन के लिए पिछले 60-70 वर्षों में तीव्र गति भूकम्प-लेखियों को विभिन्न स्थानों पर स्थापित किया गया है। इनसे प्राप्त अभिलेखों के अध्ययन से भूकम्पों के गुणधर्मों के विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त हुआ साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के द्वारा कुछ विशेष जानकारी, भूकम्प विज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त हुई है। भूकम्प विज्ञान में प्रगति, संगणकों के उपयोग में लाने से और तीव्र हो चली है। यहाँ तक की आजकल भूकम्प-भविष्यवाणी के सम्बन्ध में भी अनुसंधान कार्य प्रगति पर है।

जानमाल की बड़े पैमाने पर क्षति होने के कारण मनुष्य अतीत से ही भूकम्प को आश्चर्य एवं भय मिश्रित दृष्टि से देखता आ रहा है। धीरे-धीरे भूकम्प विज्ञान की प्रगति के कारण यह आश्चर्य व भय कम हो रहा है। वर्तमान में भूकम्प में हुई जान-माल की क्षति से ही भूकम्प तीव्रता का मापन किया जा रहा है। जान-माल की क्षति भूकम्प की भयंकरता का एक प्रमुख परिणाम है। भवनों व पुल आदि के निर्माण एवं संरचनाओं में भूकम्प प्रतिरोध तकनीक का उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार भूकम्प विज्ञान के साथ साथ भूकम्प अभियान्त्रिकी में भी उल्लेखनीय प्रगति हो रही है। इसके परिणाम स्वरूप जापान, अमेरिका जैसे विकसित देशों में महा-शक्तिशाली भूकम्पों से भी जान-माल की क्षति न्यूनतम आँकी गयी है। इन सफलताओं में तीव्र गति से भूकम्प-विज्ञान में हुए विकासों का योगदान महत्वपूर्ण है।

महत्तम क्षैतिज त्वरण एवं परिष्कृत मारकेली तीव्रता में एक सह-सम्बन्ध होता है जिसका प्रयोग करके इस त्वरण का आकलन किया जा सकता है। परन्तु यह दोषपूर्ण हो सकता है क्योंकि मारकेली तीव्रता का अनुमान इस क्षेत्र में हुई क्षति के व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित होता है।

अतएवः भूकम्प के त्वरण का त्वरणमापी अभिलेखों से प्राप्त करना ही उचित है। फिर भी विश्व में ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जहाँ उपकरणों द्वारा प्राप्त अभिलेख प्राप्त न होने पर तीव्रता से ही अधिकतम त्वरण की जानकारी प्राप्त की जाती है। तीव्रता का अनुमान करने की विधियों पर समालोचना जारी है परन्तु तीव्रता की आवृति बंटन जो अवलोकनों के प्रकाशित विवरण एवं क्षति के सर्वेक्षण पर आधारित है, आवश्यक है।

पृथ्वी की सबसे बाहरी सतह से उत्पन्न भूकम्पों में भ्रशं विभंग का स्थान महत्वपूर्ण है। परन्तु अब तक के निरीक्षणों पर आधारित प्रत्यक्ष आंकड़े इसकी पुष्टि करने हेतु विश्वसनीय नही हैं। यद्यपि स्थल चयन के अध्ययन में भूकम्प पूर्वानुमान के लिए इसका उपयोग किया जाता है तथापि भ्रंश लम्बाई से भूकम्प के परिणाम का अनुमान सही प्रकार से नही लगाया जा सकता।

तीव्र गति उपकरणों द्वारा प्राप्त त्वरण लेखों से भूगति एवं भू-विस्थापन के समय फलन ज्ञात किये जा सकते हैं। इस प्रकार तीव्र गति अभिलेखों से यथायोग्य अर्थपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है। तीव्र गति त्वरण-मापी द्वारा मापी गयी भूकम्प की गति को 'वुड एन्डरसन टॉरसन' भूकम्प मापी से प्राप्त तुल्य बल, भूकम्प अभिलेख में रूपान्तरित करने से इस माप का सही अर्थ निकालना अधिक सरल है एवं भूकम्प के परिणाम का भी सही आकलन करने में सहायता मिलती है।

तीव्र भूकम्पन की भविष्यवाणी में भूकम्प अवधि भी एक महत्वपूर्ण कारण है। सतह की गति के स्पेक्ट्रल अभिलक्षणों को 'समय प्रान्त' अथवा 'आकृति प्रांत' से प्रदर्शित किया जा सकता है। प्रायः तीव्र गति भूकम्प विज्ञान और भूकम्प अभियान्त्रिकी में आयाम स्पेक्ट्रम का ही उपयोग किया जाता है। परन्तु पूरक कला स्पेक्ट्रम, जिससे अभिलेखित तरंगों का नमूना ज्ञात होता है, भूकम्प के अध्ययन में तथा अभियान्त्रिकी में सहायक होता है।

भूकम्पों के कई अभिलेखों के क्षैतिज घटक के अध्ययन से यह भी देखा गया है कि

1. वह अनेक तरंगों के अध्यारोपण से बने होते हैं।
2. महत्तम त्वरण क्षैतिज घटकों में एक ही क्षण में नही आते।

भूकम्प के समय तथा उसके बाद समय-समय पर किये गये क्षेत्रीय अवलोकन तथा उपकरणों द्वारा प्राप्त विश्लेषण से यह ज्ञान होता है कि स्थानीय प्रवर्धन में स्थल के मृद् सतह का अत्यधिक प्रभाव होता है। इसके अध्ययन के लिये ऊर्ध्व-घटक भूकम्पी व्यूह का हाल ही में प्रयोग किया जा रहा है।

उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि किसी भी सयंत्र के स्थल चयन अध्ययन में भूकम्प के अभिलक्षणों का अध्ययन महत्वपूर्ण है परन्तु यह अधिक जटिल भी है। इसीलिये नाभिकीय सयंत्रों के भूकम्प प्रतिरोधी अभिकल्पन में इसका सही वैज्ञानिक रूप से अनुमान लगाने हेतु प्रत्येक नाभिकीय ऊर्जा सयन्त्र के साथ ही वहां भूकम्पीय उपकरण भी स्थापित किये गये हैं एवं इस प्रकार भूकम्प विज्ञान में प्रगति की जा रही है। आशा है कि इससे नाभिकीय ऊर्जा सयन्त्रों को भविष्य में पूर्ण सुरक्षा से चलाने में सहायता प्राप्त होगी।

वी रामचन्द्रन
भूतपूर्व प्रकल्प निदेशक
न्यूक्लियर पावर कारपोरेशन
बम्बई-400 094

❑ ❑ ❑

2. सुदूर संवेदन : महासागर अध्ययन में सहायक

महासागर भूमि के 70% भाग पर फैला हुआ है, जिसमें विस्तृत और अनगिनत साधन उपलब्ध हैं। प्राकृतिक दृष्टि से महासागर बहुत सक्रिय हैं। महासागरों में होनेवाली घटनाओं की मानिटरिंग और जाँच के लिए सर्वेक्षण और निगरानी की अत्यन्त आवश्यकता है। पहले, इन कार्यों के लिए नावों और जहाजों का प्रयोग होता था जिसमें अधिक मनुष्य शक्ति की आवश्यकता होती थी। इन प्रयासों को नया आयाम देने के लिए एक नयी तकनीक आयी जिसे सुदूर संवेदन कहते हैं। यह इसलिए मूल्यवान साबित हुई क्योंकि इसमें बहुत बड़े क्षेत्र को एक साथ एवं बार-बार देखने और अधिक गहन डेटा (आंकड़ा) प्राप्त करने की क्षमता होती है। और साथ ही कम समय और कीमत लगती है।

किसी भी वस्तु की जानकारी के लिए, उसके बिना भौतिक संपर्क में आए, दूर से ही संवेदन कर उसका मापन किए जाने को सुदूर संवेदन कहते है। संवेदक (सेंसर) द्वारा भौतिक पैरामीटरों को उस रूप में परावर्तित किया जाता है, तथा इन भौतिक पैरामीटरों के मापन और पता लगाने का कार्य किया जाता है जिसमें उनका भण्डारण एवं प्रसारण संभव हो। संवेदकों के आरोपण के लिए वायुयान, उपग्रह इत्यादि प्लेटफार्मो की आवश्यकता होती है। वायुयान, उपग्रह इत्यादि पर आरोपित संवेदक ''उड़ान संवेदक'' कहे जा सकते हैं जबकि सोनार, राडार, इकोसाउंडर इत्यादि संवेदक जो जहाज पर आरोपित होते हैं, उन्हें 'तैरते संवेदक' कहे जा सकते हैं। संवेदक दो प्रकार के होते हैं, सक्रिय एवं निष्क्रिय। सक्रिय संवेदक वे हैं जो विकिरण के प्रसारण द्वारा धरती की सतह पर वस्तु को प्रदीप्त कर सकते हैं एवं फिर उससे परावर्तित विकिरण को माप सकते हैं। निष्क्रिय संवेदक वे हैं जिनमें प्रकृति से उत्पन्न विकिरण जो कि परावर्तित सोलार शक्ति

तालिका : समुद्र उपग्रहों और संवेदकों के उपयोग

उपग्रह एवं स्थिति	संवेदकों के नाम	उपयोगिताएं
सीसेट (अप्रा)	अल्टीमीटर, स्केटरो मीटर, एस.एम. एम. आर	वायुगति, समुद्र सतह, तापमान वातावरणिक पानी वाष्प, तरंग ऊंचाई
निम्बस (अप्रा)	एस.एम.एम. आर., सी. जेड. सी. एस.	समुद्र सतह तापमान, वायुगति, मात्स्यिकी, प्रदूषण
जियोसेट (अप्रा)	अल्टीमीटर	वायुगति, तरंग ऊँचाई
नोआ (प्र)	ए.वी.एच. आर. आर., टी.ओ. वी. एस., एम. एस. यू.	समुद्र सतह तापमान, वर्टिकल तापमान, वातावरणिक पानी वाष्प, बादल एवं वर्षा अनुमान
मास (प्र)	टी. एम.	तटीय भूमि उपयोग, तलछटिकरण, क्लोरोफिल नक्शा चित्रण
स्पॉट (प्र)	एच. आर. वी.	तटीय भूमि उपयोग, तलछटिकरण, क्लोरोफिल नक्शा चित्रण
आई. आर. एस. (प्र)	लिस I एवं II	तटीय भूमि उपयोग, तलछटीकरण, क्लोरोफिल नक्शा चित्रण
ई. आर. एस. (प्र)	सार, स्कैटरोमीटर, राडार, अल्टीमीटर स्कैनिंग रेडियो-मीटर, माइक्रोवेव साउंडर	प्रदूषण मानिटरिंग, समुद्र सतह टोपोग्राफी, समुद्र सतह तापमान, मौसम की जानकारी।

अप्रा — अप्रचालित प्र — प्रचालित

या उत्सर्जित स्थलीय शक्ति है, उसे मापने की क्षमता होती है। वे संवेदक जो द्विआयामी चित्र उत्पन्न करते हैं उन्हें इमेजिंग सेंसर कहते हैं जबकि नॉन इमेजिंग सेंसर वे हैं जो बिन्दुमापन या रूपरेखा उत्पन्न करते हैं।

महासागरों से संबंधित विभिन्न पहलुओं का अध्ययन, महासागरीय अध्ययन में आता है। विविध प्रकार के कारक समुद्र को प्रभावित करते हैं जैसे भौतिक कारक, नामतः, समुद्र तल तापमान (सतत) तल पवने तरंगें, लहरें, करंटस, भंवर. आंतरिक लहरें, संचार पद्धति, समुद्र-पवन मे परस्पर क्रिया, भूमि-समुद्र में परस्पर क्रिया इत्यादि। रासायनिक कारक जैसे लवणता, आक्सिजन, पानी-गुण, विलीन वायु, उर्वरता, समुद्र में संदूषण, आदि, जैविक कारक जैसे, प्राणिप्लवक (जू प्लैंक्टन). पादपप्लवक फाइटोप्लेंक्टन मत्स एवं विभिन्न अन्य जीव संसाधन आदि हैं। भू-विज्ञान कारक विभिन्न अजीव कारकों जैसे टोपोग्राफी, समुद्र तल आदि से संस्थापित होते हैं। महासागर विस्तृत है और प्रचुर आर्थिक सुविधाओं से सम्पन्न हैं, इसलिए इनकी क्षेत्रीय,सामायिक एवं पुनरावृतिक तौर पर मानिटरिंग की पूर्ण आवश्यकता है।

सुदूर संवेदन महासागरों के अध्ययन के लिए निम्न प्रकार से सहायक सिद्ध हो सकता है:

(क) ये महासागरों के विश्व चित्र एवं बेसिन के विस्तृत अध्ययन एवं घटनाओं के बारे में जानकारी देने में सक्षम हैं।

(ख) ये अगम्य क्षेत्रों में अवलोकनार्थ जहां आसानी से जहाजों द्वारा अध्ययन नहीं कर सकते जैसे अन्टार्कटिका के प्रादेशिक क्षेत्र इत्यादि की जानकारी उपलब्ध करा सकते हैं।

(ग) यह विभिन्न प्रकार की समुद्री लहरों, समुद्र-बरसात, वायु इत्यादि जो अन्य साधनों

से मापन नहीं हो सकता, यह आसानी से रिकार्ड कर सकता है।

(घ) यह समुद्र मात्स्यिकीं संसाधनों को भविष्य कथन एवं पूर्वानुमान द्वारा ज्ञान करके मत्स्य उत्पादन में बढ़ावा दे सकता है।

(च) यह नियमित वातावरण के अनुश्रवण द्वारा पृथ्वी प्रकृति के अध्ययन में सहायक सिद्ध हो सकता है।

(च) उपग्रह सुदूर डेटा द्वारा वातावरण का पूर्वानुमान कर सकते हैं और तूफान और चक्रवात के बारे में समुद्र में जानेवाले मत्स्यकारों और कारगोलाइन्रस आदि को समय पर ही चेतावनी और अनुदेश दे सकते हैं।

उपग्रह डेटा द्वारा विभिन्न सागर संबंधित प्राचल जैसे रंग, सतह तापमान, तरंग की ऊँचाई, वायुगति आदि के बारे में जानकारी मिलती है। प्रयोग में आने वाले संवेदको में अवरक्त रेडियोमापी, माइक्रोवेव रेडियोमापी, थीमेटिक मेपर्स, कोस्टल जोन कलर क्रमवीक्षक आदि मुख्य हैं।

विविध प्रचालित और अप्रचालित उपग्रह और उसके संवेदक एवं उनके उपयोगों को तालिका में दर्शाया गया है

उपग्रह सुदूर संवेदन महासागर संसाधनों के निर्धारण एवं प्रबन्ध करने में बहुत उपयोगी है। भू-वातवरण को प्रभावित करने वाले सामुद्रिक कारणों को समझने के लिए सुदूर संवेदन का बहुत महत्व है क्योंकि इसमें सिनोप्टिक, टेम्पोरल और आकाशीय (स्पेशियल) प्रकृति के आंकडे प्राप्त करने की क्षमता है।

महासागर संसाधनों के अध्ययन में उपग्रह सुदूर संवेदन की उपयोगिता, अभी विभिन्न प्रयोगात्मक अवस्थाओं में है। इसके पूर्ण रूप में उपयोग के लिए अभी बहुत अध्ययन की आवश्यकता है जिनके लिए हमें विभिन्न विकासोन्मुख मॉडल और ऐसे संवेदक बनाने होंगे जिनसे अधिक स्पेक्टल विभेदन प्राप्त हो सके।

मुनौव्वर आलम खालिद
भारतीय मात्स्यिकी सर्वेक्षण,
बीच रोड़, विशाखापट्टणम-530 001.

❑ ❑ ❑

3. पर्यावरण व पशुधन के लिए गम्भीर खतरा-लेन्टाना पौधा

उत्तर प्रदेश के हिमालय (पर्वतीय) क्षेत्रों में लगभग 5000 फीट (समुद्र तल से ऊंचाई) तक लेन्टाना नामक झाड़ीनुमा पौधा बहुतायत में पैदा होता है। इस पौधे का वनस्पतिक नाम *लेन्टाना कामारा* है। स्थानीय भाषा में इसे कुरी, घनेरी, घनी झालिया, पंच कुलिया, गुल सितारा, उन्नी, ललटेना, गुलटेना, अरीपु आदि नामों से जाना जाता है। वर्षा ऋतु में तो इसकी बहुतायत हो जाती है। पर्वतीय क्षेत्रों में सड़क के किनारे अथवा खाली पड़ी भूमि या पर्वतीय छोटे -2 मार्गों पर इसकी झाडी मिलती है जो खरपतवार की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान को फैलती रहती है। यह पौधा, पर्यावरण, कृषि व पशुपालन में गम्भीर खतरा उत्पन्न कर रहा है। वैसे ये एक फूलवारी (ओरनामेन्टल) वाला पौधा भी माना जाता है। सम्भवतः यह पौधा अमेरिका से श्री लंका लाया गया। बाद में श्रीलंका से दक्षिणी भारत और तदुरान्त पर्वतीय क्षेत्र (हिमालय क्षेत्र) में भी फैल चुका है। यह विनाशकारी पौधा कृषि भूमि को बंजर बना देता है। इसके बीज का बहुत तीव्र गति से विसरण (डिसपर्सल) होता है और अधिकाधिक भूमि को अतिक्रमित कर रहा है। इसकी झाड़ी की ऊंचाई 2½ से 3 मीटर तक होती है। शाखाओं पर काँटे, पत्तियों पर तथा उनके किनारों पर भी छोटे-छोटे शूल होते हैं। फूल विभिन्न रंगों जैसे पीले, लाल, नारंगी, सफेद व गुलाबी होते हैं।

जब पशु चरने जाता है और चारागाह में घास आदि उपलब्ध न होने के कारण पशु इसी पौधे की

पत्तियों को खा लेते है। कहीं-कहीं जहां यह झीड़ीनुमा पौधा अधिकता में होता रहता है वहां के पशु इसे पहचानते हैं, और नही खाते हैं। फिर भी सूखे की स्थिति में भी यह पौधा चिरस्थाई रहता है। और पशु इसे खाने को बाध्य हो जाते हैं।

लेन्टाना नामक पौधे की पत्तियाँ खाने से पशुओं (भैंस/गाय/बछिया/बछड़े/बैल आदि, प्रत्येक श्रेणी के पशुधन में) विषाक्ति उत्पन्न हो जाती है। वैज्ञानिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि इस पौधे की पत्तियों में ''पोलिटरपीन'' व्युत्पन्न होता है जिसका सक्रिय तत्व 'लेन्टाडेन-ए' कहलाता है। यह पदार्थ ही विषाक्ति का मुख्य कारण है। इस विष का प्रभाव पशु के यकृत पर होता है।

लेन्टाना विषाक्ति से प्रभावित पशु लड़खड़ाने लगता है, पशु को पीलीया हो जाता है, गोबर अत्यन्त कठोर, मुँह सूखा हुआ, धूप में पशु को खड़ा होने पर उसकी त्वचा में जलन होती है कान तथा पिछले दोनो पैरों में अन्दर की तरफ खुजली शुरु हो जाती है। पशु अत्यन्त सुस्त हो जाता है, भूख समाप्त हो जाती है, नाड़ी की गति धीमी, अपच की शिकायत हो जाती है। मल त्यागना रुक जाता है तथा त्वचा सूख जाती है। क्रोनिक दशाओं में इरमिटाइटिज लक्षण प्रतीत होता है। त्वचा जगह जगह पर फट जाती है। इस विषाक्ति से बछड़े/बछिया/ छोटे पशु/प्रौढ पशुओं की अपेक्षा अधिक प्रभावित होते है।

इस विषाक्ति से प्रभावित पशुओं को छाया या अन्धेरे में रखना चाहिए ताकि उसकी त्वचा में सूर्य की रोशनी में जलन न हो। प्रमाणित पशुओं में जलन कम करने वाली दवाएँ फिनरामीन मैलिएट, यकृत को ताकत देने वाली दवा, कैल्शियम युक्त दवा, ग्लूकोस, डैक्ट्रोस सेलाईन अन्तः शिरा विधि द्वारा, पाचन को ठीक करने वाली दवाएँ दी जाती हैं। पशुओं को इस प्रकार दवाएँ दी जाती हैं ताकि उन्हें पेचिश हो जाएं। जहाँ - 2 त्वचा कटी-फटी अथवा खुजली युक्त हो वहां पर जीवाणु नाशक मरहम लगा देते हैं। उपचार करने पर ही पशु को बचाया जा सकता है।

वैसे तो इस खरपतवार को समूल नष्ट करने की विधि नहीं निकली है। पशुधन स्वामियों, कृषिकों को लेन्टाना नामक पौधे की झाड़ियों को समूल जला देनी चाहिए। पशुओं को ऐसे स्थानों पर चरने से बचाना चाहिए जहां लेन्टाना झाड़ी का प्रकोप हो। विषाक्ति पशु का उपचार शीघ्र निकटस्थ पशुचिकित्सालय में कराना चाहिए क्योंकि उपचार से ही प्रभावित पशु का जीवन बचाया जा सकता है।

डॉ. अनिल कुमार शर्मा
पशुचिकित्साधिकारी,
द्वाराहाट, अल्मोडा-263 653,

❑ ❑ ❑

4. चश्मा हानिकारक क्यों ?

यह सिद्ध हो चुका हैं कि दृष्टि-दोषों का मूल स्थान आँख की बाहरी मांस-पेशियों में हैं। अब तक यह समझा जाता रहा था कि इन मांसपेशियों का मूल्य केवल इतना ही हैं कि यह आखों को चारों ओर घूम सकने में सहायता देती हैं। इस बात से लोग अनभिज्ञ थे कि इनके ही कारण देखते समय आँखें अपना आकार बराबर बदलती रहती हैं। अतः अब तक धारणा यह थी कि निकट-दृष्टि दोष स्थायी कारणों से होते हैं और यह कारण क्षीण प्रकाश में काम करने, अत्यधिक पढ़ने सिनेमा देखने आदि से पैदा होते हैं।

नये दृष्टिकोण ने यह पूरी तरह सिद्ध कर दिया है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में काम करने से दृष्टि-दोष पैदा नहीं होते। ऐसी परिस्थितियों में काम करने से केवल इतना होता है कि आँख की मांसपेशियों पर दबाव से पैदा हुए दृष्टि-दोष के लक्षण उग्रतर रूप ले लेते हैं।

अतः दृष्टि-दोषों का असली कारण न जानने और यह साचने के कारण कि एक बार निकट-दृष्टि या दूर-दृष्टि आदि दोष पैदा हो गये तो उन्हें ठीक करना असम्भव है, आंखों के चिकित्सकों ने केवल

इस बात का प्रयत्न किया कि पीड़ित व्यक्ति अपनी इस कमजोरी के बावजूद कम से कम कठिनाई से काम चला सके और इसीलिए चश्में का आविष्कार हुआ।

आँख के रोगी को उपयुक्त 'पावर' का चश्मा पहनने की सलाह देकर डॉक्टर यह समझते हैं कि उसका काम खत्म हो गया और शायद वास्तव में हो भी गया क्योंकि इससे अधिक वे कर भी क्या सकते हैं। लेकिन चश्में की सहायता से स्पष्ट देखने की स्थिति पैदा कर देने से रोगी को यह भ्रम हो जाता हैं कि उसकी आंखो का दोष ठीक हो गया हैं।

व्यक्ति स्वाभाविक रूप से यही समझता हैं कि यदि वह ठीक देख सकता हैं तो उसकी आंखें भी ठीक देखती हैं। लेकिन वर्षों तक चश्मा लगाने और समय-समय पर अधिकाधिक 'पावर' के लेन्स बदलते रहने के बाद उस पर यह सत्य प्रकट होता हैं कि चश्मा पहनने के कारण उसकी आंखें ठीक नहीं, और ख़राब ही होती गई हैं।

तब, फिर चश्मे की उपयोगिता क्या हैं, अधिक से अधिक इतनी कि दृष्टिदोषों का यह एक अस्थायी उपचार है– इसे एक स्थायी इलाज समझना गलत भी है और अनावश्यक भी।

इस बात को पूरी तरह समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि चश्मा पहनने से देखने की स्वाभाविक क्रिया अस्वाभाविक हो जाती है। आँख स्वयं सहज रूप से निकट तथा दूर की चीजों को नहीं देखती, चश्मा देखने की सुविधा का एक निश्चित ढंग पैदा कर देता है।

इसका नतीजा यह होता है कि 'लेन्स' के प्रभाव से, आंखों के एक नियंत्रित और निश्चित स्थिति में रहने के कारण उन मांसपेशियों पर और अधिक दबाव पड़ता है जिनके कारण दृष्टि दोष पैदा हुआ था। अतः बराबर चश्मा पहनने से आँखे और भी खराब होती हैं – इससे दोष का कारण ठीक नहीं होता बल्कि इस तथाकथित सुविधा के कारण उल्टा अधिक उग्र रूप ले लेता हैं। साथ ही उन कृत्रिम परिस्थितियों को भी दूर नहीं किया जाता जिनके कारण आंखों की मांसपेशियों पर दबाव पड़ता है। और होता यह है कि जिन दृष्टि-दोषों को दूर करने के लिए चश्मा पहनने की सलाह दी जाती है वह और भी बढ़ जाते हैं।

मोहम्मद आरिक
377 D, D_2 टाईप, दीप कुंज
मानसरोवर कालोनी, कानपुर रोड़
लखनऊ - **226 012**

❑❑❑

भूल सुधार

'वैज्ञानिक' के अक्टूबर-दिसंबर (1993) अंक में श्री ए.पी. मिश्र द्वारा लिखित 'सिन्क्रोट्रान विकिरणः एक विलक्षण प्रकाश स्त्रोत' लेख में छपाई के दौरान कुछ गलतियां आ गयी हैं। उसका हमें अत्यन्त खेद है। कृपया निम्नलिखित संशोधनों के साथ इस लेख को पढ़ें।

पृष्ठ	कॉलम	पंक्ति	गलत	सही
5	—	5	जानकारी	जानकारियां
	1	11	परिक्षण	परीक्षण
6	2	13	को	के
	2	27	विशेषताओं	विशेषताएं
7	1	8	है	है λc
	1	12	c	λc
	1	23	10 से 10	10^{10} से 10^{13}
	2	4	तरंगदैध्य	तरंगदैर्ध्य λc
		5	तरंगदैर्ध्ये	तरंगदैर्ध्य $\lambda > \lambda c$
		6	जबकि	जबकि $\lambda < \lambda c$
		8	तरंगदैर्ध्य	तरंगदैर्ध्य $\lambda c/5$
		21	जहाँ = E	जहां $\gamma = E/Eo$
		22	E	Eo
58	1	32	सेकेण्ड	10^{-6} सेकेण्ड
	2	7	61.39	61.39A^{o}
		11	दर्शिक	दर्शिकी
		17	जा	किया जा
		27	विधिया	विधियां

नोट : चित्र 1 तथा 2 की आकृतियां बदल गयी हैं।

विज्ञान समाचार

भा. प. अ. केन्द्र में :

पदार्थ संविरचना अभिलक्षणीकरण राष्ट्रीय केंद्र

पदार्थों के संरचनात्मक अभिलक्षण अध्ययन हेतु हैदराबाद में स्थापित पदार्थ संविरचना अभिलक्षणीकरण राष्ट्रीय केन्द्र (NCCCM) भा.प.अ. केन्द्र की नवीनतम उपलब्धि है। यह प्रयोगशाला भारतवर्ष में तो अपनी तरह की एक है ही पर संसार की किसी भी ऐसी विशिष्ट प्रयोगशाला के समकक्ष है। इस की स्थापना का आधार भा.प.अ. केन्द्र में के विकसित विश्लेषणात्मक रसायनिकी विशेषज्ञता है। यह प्रयोगशाला पदार्थों में करोड़वें/अरबवें हिस्से तक की शुद्धता/अशुद्धता के विश्लेषण की क्षमता रखती है। यह अंतरराष्ट्रीय निर्देशों पर आधारित गुणवत्ता नियंत्रक मान्यकरण स्थापित करने में सहायक होगी।

13 सितंबर 1993 को इसके उद्घाटन पर भा.प.अ. केन्द्र के निदेशक श्री ए. एन. प्रसाद ने बतलाया कि पदार्थों का अभिलक्षणन उनके विकास और अनुप्रयोगों की प्रथम आवश्यकता है। इलेक्ट्रॉनिकी, सुरक्षा, अंतरिक्ष व नाभिकीय आदि उच्च तकनीकी क्षेत्रों में इस्तेमाल होने वाले अति शुद्ध पदार्थों की बढ़ती हुई जरूरतों ने अति-सुग्राही विश्लेषण विधियों के विकास में प्रेरणा दी है। मानव स्वास्थ्य और रोगों में लेश (ट्रेस) तत्वों के योगदान को समझने हेतु भी लेश-विश्लेषण अनिवार्य है। अपराध-विज्ञान और वातावरणीय विज्ञान में अत्योच्च गुणात्मक लेश-विश्लेषण महत्वपूर्ण हैं।

हैदराबाद में स्थापित इस प्रयोगशाला में संरचनात्मक अभिलक्षणों से जुड़ी निम्नलिखित अध्ययनों की सुविधाएं उपलब्ध होंगी।

मुख्य घटक आमापन (ऐस्से); उचित तत्वानुपाती स्टोकियोमिट्री), समष्टि (बल्क) में लेश घटकों की सांद्रता का मापन, सतहों/गहराई में घटकों के वितरण का प्रोफाइल, और घटकों की रसायनिकी अवस्था का ज्ञान। विशिष्ट विश्लेषणात्मक उपलब्ध सेवाओं के अंतर्गत अति लेशात्मक (दस करोड़वें भाग से भी कम का) विश्लेषण और सतही/गहराई प्रोफाइल का मात्रात्मक मापन आते हैं। मान्यकरण में विश्लेषणात्मक विधियां, प्रमाणित संदर्भ पदार्थ और विशिष्ट ट्रेनिंग आदि शामिल हैं। एन. सी. सी. सी. एम. उद्योगों को प्रक्रिया विश्लेषणात्मक-रसायनिकी, प्रक्रम इष्टमीकरण और उत्पादों के मानांकन में यथोचित सलाह देगा। यहां पर विश्लेषणात्मक रसायनिकी में आधार-भूत अनुसंधान व नूतन पदार्थों पर भी कार्य होगा। इसके लिये यहां इस केन्द्र में निम्न प्रयोगशालाएं होगी।

1. समष्टि विश्लेषण प्रयोगशाला: इसमें कई प्रकार के यंत्रों द्वारा विभिन्न विश्लेषण विधियों से पदार्थों में उपस्थित लाखवें हिस्सों तक की अशुद्धियों का पृथक्करण और आमापन किया जा सकेगा।
2. प्रोफाइल मापन प्रयोगशाला में 3MV ऊर्जा वाला टेण्डम त्वरक विशेषत: प्रोफाइल अध्ययन के लिए होगा।
3. रसायनिक विश्लेषण प्रयोगशाला में रासायनिक विश्लेषण हेतु इलेक्ट्रॉन स्पेक्ट्रोस्कोपी (एस्का) और विश्लेषणीय इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी यंत्र होंगे।

टेण्डम त्वरक में नाभिकीय विधियों से कई समस्याओं का हल मिल सकेगा। जैसे (i) समष्टि में कम Z (प्रोटोन संख्या) वाले तत्वों का विश्लेषण, (ii) हाइड्रोजन जैसे तत्वों (जिनकी पदार्थ में उपस्थिति माइक्रोग्राम प्रति वर्ग सेंटीमीटर की सांद्रता में हो), का प्रोफाईल मापन (सतही और गहराई में)। यहां

प्रोफाइल मापन का विभेदन 70 A° तक होगा। (iii) जैविकी में खोजों के लिए समस्थानिकों के अनुपातों का मापन/अध्ययन। (iv) तैयार किये गये पदार्थों (सतहों) का अविनाशी परीक्षण (v)। सतहों की सापेक्षिक गतियों को नापने के लिए महीन-पर्त सक्रिय विधियों का प्रयोग कर उनके घिसने की दरों की नाप - माइक्रोन के दसवें भाग तक की जा सकेगी।

अतिलेश विश्लेषण प्रयोगशाला की कई आवश्यकताएं होती हैं: नियंत्रित स्वच्छ वातावरण, धातु-विहीन कार्य-सतहें (जिनकी स्वच्छता 100 दर्जे (लेविल) से ज्यादा हों), प्रयोगशाला में क्रिया-कलापों का कठोर नियंत्रण, जिनमें उपचारित फ्लूरोवेयर उपकरण व नव-शुद्ध रसायनों का प्रयोग और प्रयोगशाला में रसायनिकी क्रियाओं को स्वच्छता से करने के संस्कार (आदतें) भी शामिल हैं। विश्लेषण विधियों की रिक्तियां (ब्लैंक) — जिन तत्वों को नापना है — उनकी विश्लेषण रसायनों में उपस्थिति) पिको ग्राम (10^{-12} ग्राम) या उससे भी कम होनी चाहिए ताकि तत्वों की सांद्रता की नाप अरबवें हिस्से (10^{9} में एक भाग) तक विश्वसनीय रूप से की जा सके। इस हेतु जिन विधियों को अपनाया जायेगा — उनमें पृथक्करण हेतु क्रोमेटोग्राफी, सोल्वेंट एक्सट्रेक्शन, और कई अभिनव विधियां व नापने की वर्ण-रसायनिकी, विद्युत-रसायनिकी, मात्रा-रसायनिकी और नाभिकीय विधियां आदि शामिल हैं।

प्रस्तुति : **डॉ. कैलाश चन्द्र भल्ला**
रसायनिकी प्रभाग
भा.प.अ. केन्द्र बम्बई,400 085.

❑❑❑

संगोष्ठी समाचार

1. उच्चगति कंप्यूटर : आधुनिक विज्ञान का एक अभिन्न अंग

वर्ष 1994 का शुभारंभ हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद द्वारा एक महत्वपूर्ण एवं सामयिक विषय पर आयोजित संगोष्ठी से हुआ। इस संगोष्ठी का विषय था "उच्चगति कंप्यूटर : आधुनिक विज्ञान का एक अभिन्न अंग" जो 3 जनवरी, 1994 को सेन्ट्रल काम्पलेक्स सभागृह, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र में आयोजित की गई। इस संगोष्ठी में आमंत्रित कंप्यूटर विषेशज्ञों ने उच्चगति कंप्यूटर संबंधित विभिन्न विषयों पर वार्तायें प्रस्तुत की। लगभग 302 पंजीकृत प्रतिनिधियों ने इस संगोष्ठी में भाग लेकर वार्ताओं का लाभ उठाया।

उद्घाटन सत्र में श्री एच. के. कौरा अध्यक्ष, कंप्यूटर प्रभाग ने प्रतिभागियों का स्वागत किया। डॉ. बी. ए. दासण्णाचार्य, निदेशक, ठोस अवस्था भौतिकी एवं वर्णक्रमदर्शिकी वर्ग एवं अध्यक्ष, हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में विज्ञान और प्रौद्योगिकी में उच्चगति कंप्यूटर के उपयोग पर प्रकाश डाला। श्री एस.के. मेहता, निदेशक, रिएक्टर वर्ग ने अपने उद्घाटन भाषण में भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र में कंप्यूटर की गतिविधियों एवं विकास की चर्चा की। डॉ. पी. व्ही. एस. राव, अध्यक्ष, कंप्यूटर प्रणाली एवं संचार वर्ग टी.आई.एफ.आर. बंबई ने प्रमुख वार्ता प्रस्तुत की जिसमें कंप्यूटर के क्षेत्र में हुए विकास का विवरण सरल भाषा में प्रस्तुत किया। वर्तमान स्थिति का भी उल्लेख किया। श्रीमती रश्मि रस्तोगी, संगोष्ठी संयोजक, ने सभी अधिकारियों एवं श्रोतागणों का आभार प्रकट किया।

आमंत्रित वार्ताओं में सब से पहले श्री पी.एस. ढेकणे, कंप्यूटर प्रभाग, भा.प.अ. केन्द्र ने यहां विकसित उच्चगति कंप्यूटर बी.पी.पी.एस. (अनुपम) की जानकारी दी। प्रो. एस.एम. देशपांडे IISc बैंगलोर की वार्ता का विषय था उच्चगति कंप्यूटर के फ्लूइड डाइनामिक्स में उपयोग। उन्होंने फ्लूइड डाइनामिक्स के क्षेत्र में उच्चगति कंप्यूटर का महत्व समझाया। CDAC पुणे के डॉ. भावसार और उनके सहयोगियों ने परम उच्चगति कंप्यूटर के बारे में जानकारी प्रदान की । डॉ. के. पी. सिंह ADA (Aeronautical Develop-

ment Agency) बैंगलोर ने उच्चगति कंप्यूटर के कंप्यूटेशनल डाइनाममिक्स में उपयोग पर वार्ता प्रस्तुत की।

इलेक्ट्रॉनिक मेल, जिसका आजकल बहुत उपयोग हो रहा है, के बारे में डॉ. संजय एच. पाठक, NCST, बंबई ने जानकारी दी। अनुपम उच्चगति कंप्यूटर का उपयोग कई अन्य क्षेत्रों में भी किया जा रहा है। 'जैव भौतिकी में कंप्यूटरों का प्रयोग', डा. एम. रामनाथम्, ठोस अवस्था भौतिकी प्रभाग, भा.प.अ. केंद्र की वार्ता का विषय था। श्री एच.एस कुशवाहा, रिएक्टर इंजीनियरिंग प्रभाग, भा.प.अ. केन्द्र ने रिएक्टर घटकों का स्ट्रेस विश्लेषण पर वार्ता प्रस्तुत की।

सभी वार्ताएं विडियो टेप की गई हैं।

श्रीमती रश्मि रस्तोगी
संहयोजक, कंप्यूटर प्रभाग
भा.प.अ. केन्द्र, बंबई-400 085

❑ ❑ ❑

2. नोबेल पुरस्कार : किसे और क्यों ?

वर्ष 1993 के नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिकों एवं उनके कार्यों के बारे में कुछ जानकारी देने के उद्देश्य से हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद ने 13 जनवरी 1994 को भा.प.अ. केन्द्र में पिछले वर्ष की भांति एक अर्ध दिवसीय सेमिनार का आयोजन किया। इसके अंतर्गत भौतिकी, रसायनिकी और फीजियोलॉजी एवं मेडिसिन के वर्ष 1993 के नोबेल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिकों के कार्यों पर भा.प.अ. केंद्र के प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों द्वारा प्रकाश डाला गया। समारोह अध्यक्ष डॉ. डी. वी. गोपीनाथ, सलाहकार भा.प.अ. केन्द्र ने राजभाषा हिन्दी में वार्ताओं के आयोजन की सराहना की तथा इन प्रयासों की आवश्यकता पर विशेष बल दिया क्योंकि ये भारतीय भाषाओं में विज्ञान को जन सामान्य तक पहुंचाने एवं एक सहज वातावरण तैयार करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। संयोजक डॉ. कोठियाल ने वक्ताओं का परिचय कराने के साथ साथ नोबेल पुरस्कार की एक संक्षिप्त भूमिका भी प्रस्तुत की।

नाभिकीय भौतिकी प्रभाग के डॉ. बृजेश कुमार जैन ने भौतिकी में बायनरी पल्सर की खोज पर दिए गए पुरस्कार की चर्चा की। यह पुरस्कार संयुक्त रूप से अमरीका के 52 वर्षीय प्रो. जोसेफ टेलर तथा उनके पुराने विद्यार्थी 42 वर्षीय प्रो. रसेल हल्स को 1974 में की गयी खोज पर दिया गया। बायनरी पल्सर एक सघन घूर्णित स्टार है जो कि विद्युत चुम्बकीय विकिरण उत्सर्जित करता है। इस खोज ने आईंस्टीन के सापेक्षतावाद के व्यापक सिद्धांत की पुष्टी करने की दिशा में नवीन संभावनाएं दी हैं। यह एक संयोग की बात है कि 1993 में रसायनिकी और फीजियोलॉजी एवं मेडिसिन का पुरस्कार प्राणियों में निहित 'जीन' से संबंधित था। इस विषय पर युवा वैज्ञानिक डॉ. अशोक कुमार जो कि आण्विक जीव विज्ञान एवं कृषि प्रभाग में कार्यरत हैं, ने प्रकाश डाला। उन्होनें अमरीकी वैज्ञानिक डॉ. कैरी मूलिस द्वारा विकसित पौलीमरेज चेन रिएक्शन (PCR) तथा कैनाडा के प्रो. माइकेल स्मिथ द्वारा खोज की गयी साइट डायरेक्टेड म्यूटाजनेसिस प्रक्रिया के बारे में बताया। आण्विक जीव विज्ञान एवं कृषि प्रभाग के अध्यक्ष डॉ. सुदेश कुमार महाजन ने इंग्लैड के डॉ. रिचर्ड जे राबर्ट एवं अमरीकी डॉ. फिलिप्स ए. शार्प को 'स्प्लिट जीन' की खोज पर संयुक्त रूप से मिले पुरस्कार की जानकारी दी। इन दोनो वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि वरिष्ठ प्राणियों के 'जीनों' के अन्दर कुछ ऐसे भाग होते हैं जिनमें प्रोटीन की संरचना के लिए कोई सीधी सूचना नही रहती।

अन्त में परिषद के सहसचिव डॉ. मनचन्दा ने श्रोताओं तथा अन्य संबंधित महानुभावों को धन्यवाद दिया। कार्यक्रम में भाग लेने वाले वैज्ञानिकों की संख्या

में प्रतिवर्ष हो रही वृद्धि इस कार्यक्रम की लोकप्रियता की परिचायक है।

डॉ. गोविंद प्रसाद कोठियाल
संयोजक
तकनीकी भौतिकी एवं प्रोटोटाइप इंजी. प्रभाग
भा.प.अ. केन्द्र बम्बई-400 085

3. नाभिकीय ऊर्जा एवं स्वचालन

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद, भा.प.अ. केन्द्र, नाभिकीय ऊर्जा से संबंधित विषयों पर सही एवं समुचित जानकारी जन सामान्य तक पहुंचाने के उद्देश्य से प्रतिवर्ष हिन्दी में एक संगोष्ठी का आयोजन करती है। इसी श्रृंखला के अंतर्गत इस वर्ष 25-26 , मार्च 1994 को राजभाषा कार्यान्वयन समिति, नाभिकीय ईंधन सम्मिश्र (नाईंस), हैदराबाद के साथ मिलकर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसका विषय था 'नाभिकीय ऊर्जा एवं स्वचालन'। इसका उद्घाटन 25 मार्च 1994 नाभिकीय ईंधन समिश्र हैदराबाद में डॉ. धरणी प्रसाद सिन्हा, यू. एन.डी.पी. विशेषज्ञ एवं पूर्व निदेशक - एडमिनिस्ट्रेटिव स्टॉफ कॉलेज, हैदराबाद द्वारा श्री के. के. सिन्हा, मुख्य कार्यपालक नाभिकीय ईंधन सम्मिश्र एवं अध्यक्ष व प्रबंध निदेशक मिधानि, की अध्यक्षता में हुआ। इस अवसर पर श्री एस. के. शर्मा, सह निदेशक, रिएक्टर वर्ग, एवं अध्यक्ष, राजभाषा कार्यान्वयन समिति, भापअ केन्द्र ने हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य सृजन तथा वैज्ञानिक जानकारी के प्रसार में परिषद के योगदान की सराहना की। इसी संदर्भ में श्री गजानन पांडेय, सहायक निदेशक राजभाषा कार्यान्वयन समिति, नाईंस, ने नाभिकीय ईंधन सम्मिश्र में हिन्दी गतिविधियों पर प्रकाश डाला। स्थानीय संयोजक समिति के अध्यक्ष उमेश चन्द्र गुप्त (उपमुख्य कार्यपालक-परियोजना) तथा अध्यक्ष राजभाषा कार्यान्वयन समिति, नाईंस) ने वक्ताओं एवं श्रोताओं का स्वागत किया। श्री सी.आर.पी. शेट्टी, वरिष्ठ प्रबंधक (नाईंस) ने मंच संचालन तथा स्थानीय आयोजन समिति के सचिव श्री सी.एम. श्रीवास्तव ने धन्यवाद ज्ञापन का कार्य किया।

यह संगोष्ठी दो भागों में विषय के आधार पर संपन्न हुई। पहले दिन नाभिकीय ऊर्जा के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गयी। चर्चा के विषय थे रिएक्टर प्रचालन व उपयोग, रिएक्टर नियंत्रण, नियमन व सुरक्षा, नाभिकीय रिएक्टर उपकरण निर्माण, भारी पानी उत्पादन, परमाणु खनिज निष्कर्षण, ईंधन निर्माण तथा ईंधन पुनर्संसाधन; दूसरे दिन स्वचालन विषय पर वार्ताएं प्रस्तुत की गयीं जो न केवल नाभिकीय ऊर्जा प्रणालियों से संबंधित बल्कि संसूचना, तापीय परियोजना, वेल्डिग, औषधि विश्लेषण, फोटोग्राफी, उत्पादन, NO_2 मॉनिटरन इत्यादि प्रणालियों से भी संबंधित थी। स्वचालन में कंप्यूटरीकरण से हो रही प्रगति का उल्लेख किया गया। कार्यक्रम के अन्त में एक पैनल चर्चा भी हुई जिसमें विशेष रूप से वैज्ञानिक शब्दावली को समृद्ध करने के लिए विचार विमर्श हुआ।

इस कार्यक्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि कुल 22 वक्ताओं में से लगभग 15 वक्ता अहिंदी भाषा क्षेत्रों से थे तथा संपूर्ण कार्यक्रम संचालन कार्य भी अहिन्दी भाषी श्री शेट्टी ने किया। देश के विभिन्न भागों से लगभग 225 लोगों ने इस संगोष्ठी में भाग लिया।

संगोष्ठी की समाप्ति परिषद के सह सचिव डॉ. मनचन्दा द्वारा स्थानीय आयोजकों तथा अन्य संबंधित व्यक्तियों के प्रति आभार प्रदर्शन के साथ हुई।

डॉ. गो. प्र. कोठियाल
संयोजक-संपादन एवं स्मारिका समिति
भा.प.अ. केन्द्र, बंबई-400 085

❑ ❑ ❑

संकलन

पिछले अंकों की अनुक्रमणिका (गतांक से आगे)

जनवरी-मार्च 1985 17 (1)

संपादकीय 5

लेख

अंतरिक्ष में तैरते हुए कृत्रिम उपग्रह 7
– डॉ. सी. एल. गर्ग

'इन्टलसैट' संस्था का आधुनिकतम उपग्रह-इन्टलसैट-6 11
– ओ. पी. एन. कल्ला एवं काली शंकर

ईंधन का नया विकल्प : गैसोहल 14
–डॉ. देवकीनंदन

जैव-उर्वरक 18
– राज नारायण पांडेय

धातुकीय कांच 23
–सुमन कुमार शर्मा

जीवन का आधार 26
–डॉ. रमेश सोमवंशी

दुर्घटनाकारी मिथाइल आइसोसायनेट संयंत्र 31
–प्रदीप तिवारी

स्तंभ

सिद्धांत/सूत्र/समीकरण 35
विज्ञान के बढ़ते कदम 38
बना कर देखें 40
बुद्धि कौशल की परख 44

अप्रैल-जून 1985 17(2)

संपादकीय 4

लेख

संलयन ऊर्जा 7
– डॉ. श्याम लाल काकानी

भारी धातुएं : कितनी गुणकारी, कितनी भारी? 12
– डॉ. सुनील पांडे एवं राधेश्याम शर्मा

मौसम विज्ञान 18
– सुषमा नेवे

जल में फ्लोराइड, उनका प्रभाव और निष्कासन 22
– डॉ. राम गोपाल

काष्ठ प्रौद्योगिकी का महत्व 27
– सतीश कुमार एवं सुभाष पंत

स्तंभ

विज्ञान के बढ़ते कदम 38
सिद्धांत/सूत्र/समीकरण 41
बुद्धि कौशल की परख 44
बना कर देखें 45

जुलाई-सितंबर 1985 17(3)

संपादकीय 5

लेख

नाभिकीय चुंबकीय अनुनाद और जीवशास्त्र 7
– गिरिजेश गोविल

जालों की दुनिया 12
– राज कुमार जैन

पैट्रोल मितव्ययता के लिए एक नयी इंजन प्रणाली 18
– राजेंद्र कुमार सक्सेना

आइए, परमाणु के भीतर झांककर देखें (I) 22
– जनार्दन स्वरूप

विटामिन : स्वास्थ्य के लिए रामबाण 28
– इकबाल हबीब

टिप्पणियां

पेनिसिलीन 34
– डॉ. अशोक कुमार गोस्वामी

खेती में उपयोगी शैवालीय खादें 36
– डॉ. उमेश पांडेय

स्तंभ

बुद्धि कौशल की परख 33
विज्ञान के बढ़ते कदम 39
सिद्धांत/सूत्र/समीकरण 41
बना कर देखें 43

अक्तूबर-दिसंबर 1985 17(4)

संपादकीय 4

लेख

रोबटिक्स के मूल तत्व और प्रयोग 7
– अरविंद कुमार जोशी
रासायनिक प्रयोगशाला में सुरक्षा 12
– डॉ. देवकी नंदन
आधुनिक औषधि विज्ञान 19
– आश्रिता सुरेन
भारत में अंकगणित का विकास 23
– कुमार नीरज
आइए, परमाणु के भीतर झाँककर देखें-II 28
– जनार्दन स्वरूप

स्तंभ

बुद्धि कौशल की परख 36
सिद्धांत/सूत्र/समीकरण 37
बना कर देखें 39

जनवरी-जून 1986 18(1 एवं 2)

लेख

इक्कीसवी सदी की दुनिया : विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की दृष्टि से 9
– आचार्य राम चरण मेहरोत्रा
कागज रहित कार्यालय हेतु सूचना प्रौद्योगिकी 15
– डॉ. पी. पी. गुप्त
कार्बनिक रासायनिक प्रौद्योगिकी में शोध की प्रवृत्तियां 19
– संपतराय चंदालिया
पर्यावरण प्रदूषण एवं नियंत्रण 25
– राम कुमार गर्ग
भारत के ऊर्जा उत्पादन में परमाणु ऊर्जा का योगदान 29
– एस. एल. काटी
इक्कीसवी शताब्दी में खगोलशास्त्र का स्वरूप क्या होगा? 35
– प्रो. जयंत नार्लीकर
घनावस्था विज्ञान के कुछ अग्रणी क्षेत्र 40
– डॉ. रा. चिदंबरम एवं सुरिंद्र शर्मा
भारतीय विज्ञान की भावी दिशाएं : आनुवांशिकी एवं आण्विक जीवविज्ञान 46
– डॉ. निहाल किसनचंद नोताणी
लेसर अनुसंधान की भावी दिशाएं 50
– डॉ. दिलीप भवालकर एवं जगदीश चंद्र मोंगा
समुद्र विज्ञान के नये आयाम 54
– डॉ. एस. जेड कासिम
वायुमंडल तथा अंतरिक्ष के लिए उपयुक्त पदार्थों के विकास की उभरती दिशाएं 58
– विवेक रंजन सिन्हा

स्तंभ

विज्ञान के बढ़ते कदम 66
सिद्धात/सूत्र/समीकरण 68
बुद्धि कौशल की परख 70
गोष्ठी समाचार 72

जुलाई-सितंबर 1986 18(3)

संपादकीय 4

शरीर में ही छिपे कैंसर के 'बीज!' 7
– डॉ. अचल गर्ग
ज्ञान का तबादला (विज्ञान कहानी) 12
– मनोज कुमार पटैरिया
प्रकाश एक अवस्था है 15
– नागेश कुमार श्रीवास्तव
ऊर्जा से ओतप्रोत ये विलक्षण तारे: क्वासार 19
–आशुतोष मिश्र
संचार : वर्तमान और भविष्य 21
–सुनीता श्रीवास्तव
क्वांटम सिद्धांत : कितना सक्षम, कितना सफल 24
–अमिताभ जोशी
पर्यावरण विभाग– एक झलक 29
'आकाश' से विद्युतशक्ति का उत्पादन 37
विद्युतजीवी देश और अंतर्राष्ट्रीय ग्रिड प्रणाली 38
– राजेश जैन

स्तंभ

विज्ञान के बढ़ते कदम 34
बुद्धि कौशल की परख 36

विज्ञान कविता

सूरज़ की मौत

पाँच अरब बरस पहिले
जन्म हुआ हैं सूरज का
क्या अंत कभी हो जायेगा
इस जीवनदाता ग्रहपति का
यदि अंत कभी होगा इसका
तो क्या होगा इस दुनिया का?
यह प्रश्न बड़ा ही रोचक है
है ध्यान लगा इस पर सबका
मरण सभी का निश्चित है
जो पैदा होता है जग में
वैसे ही होगा अंत कभी
सूरज न रहेगा इस नभ में
हाइड्रोजन बदल रहा प्रतिपल
हीलियम तत्व के नाभिक में
ऊर्जा प्रतिक्षण है निकल रही
घट रहा भार है सूरज में
अन्दर से ऊर्जा निकल निकल
बाह्य भाग में आती है
बाहर का हिस्सा फैल रहा
इससे घनत्व कम होता है
अंतस्तल में हीलियम बढ़ने से
अन्दर ही अन्दर सिकुड़ेगा
ताप अधिक हो जायेगा
नाभिक प्रतिक्रिया बदलेगा
अत्यधिक ताप बढ़ जाने पर
ऐसी स्थित पैदा होगी
तीन नाभि हीलियम मिलकर
कार्बन नाभिक में बदलेगी
सूरज की नाभि सिकुड़ेगी,
और बाहर की पर्तें फैलेगी
चमकेगा रक्तपिण्ड जैसा
सूरज विराट हो जायेगा
विराट रूप हो जाने पर
विस्फोट तभी होगा उसमें
बाहर का हिस्सा फट करके
फैलगा पूरे नभ भर में
बचा हुआ अन्दर का हिस्सा
ताप बहुत ज्यादे होगा
निकलेगी बड़ी क्षीण ज्योति
नाम श्वेत-वामन होगा
कुछ काल बीतने पर आगे
वह भी ठंडा हो जायेगा
इस तरह खत्म होगा सूरज
जग अंधियारा छा जायेगा
सूरज की आयु दस अरब वर्ष
आधी अपनी है गवाँ चुका
बाकी उम्र बीतने पर
अवसान निकट होगा इसका

डॉ. प्रकाश चतुर्वेदी एवं
वंदना पाण्डेय
भौतिकी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

❑ ❑ ❑

● नर व्हेल, हाथी, गैंड़ा, में अण्डकोष शरीर के अंदर स्थित होते हैं जबकि चमगादड़ एवं अधिकांश कुतरने वाले स्तनधारियों में ये अंग केवल प्रजनन काल में ही शरीर के बाहर आते हैं और बाद में पुनः अंदर चले जाते हैं।

कु. पूजा तिवारी

अखिल भारतीय हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता (1993) का परिणाम

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद एवं राजभाषा कार्यान्वयन समिति, भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता हेतु 25 लेख प्राप्त हुए। परिणाम इस प्रकार हैं :

पुरस्कार	विजेता का नाम	पता	विषय
प्रथम (रु. 1500/-)	कुलवंत सिंह	धातुकी प्रभाग, भा.प.अ. केन्द्र बंबई - 400 085	प्लाज्मा प्रौद्योगिकी एवं इसके उपयोग
	शंकर प्रसाद चक्रवर्ती	धातुकी प्रभाग, भा.प.अ. केन्द्र बंबई - 400 085	विशेष लौह मिश्रातु उत्पादन की भट्टी रहित अनोखी विधिः धातुकी के लिये वरदान
द्वितीय (रु. 1000/-)	डॉ. ए. के. शर्मा एवं प्रो. ए. वी. पत्की	इसरों उपग्रह केन्द्र बंगलोर	अंतरिक्ष उपयोग के लिये हल्की मैग्नेशियम- लिथियम मिश्र धातुएं
तृतीय (रु. 500/-)	सुभाष चन्द्र लखेड़ा	रक्षा शरीर क्रिया एवं संबंद्ध विज्ञान संस्थान, दिल्ली-110 010	क्या खेल व्यायाम स्वास्थ्य को हानि भी पहुंचाते हैं?
प्रोत्साहन (रु. 300/-) प्रत्येक	1. राम नरेश शर्मा,	तकनीकी सेवाएँ प्रभाग भा.प.अ. केन्द्र बंबई	खाद्य पदार्थो का संरक्षण
	2. श्रीमती वीणा सागर,	ईंधन रसायनिकी प्रभाग, भा.प.अ. केन्द्र बंबई-400 085	कार्बन के बृहत गोलक फुल्लरीन
	3. राकेश कुमार पांडेय एवं डॉ. सुबोध कुमार दत्त	उत्परिवर्तन प्रयोग शाला राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्थान, लखनऊ	करकस तेल- डीजल का एक विकल्प
	4. जी. एस. डंग,	भारतीय पेट्रोलियम संस्थान, देहरादून	अवशेष तेल अपग्रडेशन
	5. डॉ. आर.एन. शुक्ला,	प्रयुक्त रसायन विभाग, सम्राट अशोक अभियांत्रिकी महाविद्यालय, विदिशा	लुग्दी एवंम कागज उद्योग द्वारा वायु प्रदूषण एवं रसायन अभियांत्रिकी
अहिन्दी भाषी (रु. 300/-) प्रत्येक	1. अनिल भि. वळसगंकर	राष्ट्रीय सागर संशोधन संस्थान दोना पावला, गोआ-403 004.	समुद्रीय बहुधात्विक पिण्डों की उत्पति और उपयोग
	2. डा. गोविंद घोलप,	रसायन विभाग शा. स्नात्तकोत्तर, महाविद्यालय, महू (म.प्र.)	जैव सूचक (बायोइंडिकेटर्स)

श्रद्धांजली

डॉ. जनार्दन स्वरूप

अप्रैल 1989 से 'वैज्ञानिक' के संपादक-संयोजक के रूप में कार्य कर रहे डॉ. जनार्दन स्वरूप का 19 फरवरी 1994 को स्वर्गवास हो गया। वे पिछले 7-8 महीनों से अस्वस्थ चल रहे थे। ''वैज्ञानिक'' परिवार को उनके निधन से अपार क्षति हुयी है।

डॉ. स्वरूप का जन्म 11 अक्तूबर 1936 को हुआ था। उन्होनें 1958 में लखनऊ विश्वविद्यालय से भौतिकी तथा 1960 में आगरा विश्वविद्यालय से गणित में एम.एससी. की उपाधियां ग्रहण की। वे एक वर्ष (1959) तक गोरखपुर-गुरूकुल कांगड़ी, हरिद्वार में भौतिकी के प्रवक्ता भी रहे। इसके उपरांत 1960 में भा.प.अ. केन्द्र के ट्रेनिंग स्कूल में एक वर्षीय भौतिकी पाठ्य कार्यक्रम के लिए चुने गए। इस कोर्स की सफलता के बाद 1961 में इस केन्द्र के रसायनिकी इंजीनियरी प्रभाग में कार्य करने लगे। 1969 में वे स्वास्थ्य भौतिकी प्रभाग में आए तथा उन्होंनें विकिरण भौतिकी शोध में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनके मुख्य शोध विषय थे– सम्मिश्र अनवरत स्काइशाइन गामा स्पेक्ट्रा का अनावरण, विभिन्न ऊर्जा स्रोतों से संबंधित बहु प्रकीर्णन गामा किरण फ्लक्स के लिए मॉडलों का विकास तथा इनकी प्रायोगिक जांच। इस प्रभाग में कार्य करते हुए 1988 में बंबई विश्वविद्यालय से ''Multiple Scattering of Gamma Rays in Light Media'' विषय पर पीएच. डी. की उपाधि हासिल की। आपके राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय शोध ग्रंथों में कई शोध पत्र प्रकाशित हुए थे। अपने शोध कार्यों के अतिरिक्त उन्होनें प्रभाग के ट्रेनिंग कार्यक्रम को उपयोगी बनाने में उल्लेखनीय योगदान दिया तथा विभिन्न रिएक्टर साइट पर कर्मियों के लिए स्वास्थ्य भौतिकी के ऊपर रिफ्रेशर कोर्स भी आयोजित किये। भा.प.अ. केन्द्र के अग्निशामक दल के लिए विकिरण स्रोत, खतरे, मानिटरण और संरक्षण पर जून-जुलाई 1992 के बीच एक प्रशिक्षण कार्यक्रम में सरल हिन्दी भाषा में वार्ताएं दीं तथा पठन सामग्री भी तैयार की।

डॉ. स्वरूप की राजभाषा हिन्दी के प्रति विशेष रुचि थी। वर्ष 1977-79 के लिए आप हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद के सचिव चुने गए तथा 1981 से राजभाषा कार्यान्वयन समिति के सदस्य रहे। अपने आरंभिक दिनों से अंतिम समय तक वे हिन्दी से संबंधित विभिन्न कार्यक्रमों से सदैव जुड़े रहे। इस दौरान वे स्वास्थ्य भौतिकी एवं विकिरण संरक्षण शब्दावली निर्माण समिति के संयोजक रहे जिसका कार्य 1990 में प्रारम्भ होकर मार्च 1993 में पूरा हुआ। इस शब्दावली का विमोचन श्री बुद्धि राजा द्वारा किया गया। इसी बीच 14-15 नवम्बर 1991 को स्वास्थ्य भौतिकी शब्दावली से संबंधित शब्दावली निर्माण प्रक्रिया कार्यशाला भी आयोजित की। हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद द्वारा समय समय पर आयोजित संगोष्ठियों की आयोजन समिति के सदस्य रहे तथा नवम्बर 4 से 6, 1992 में केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के सहयोग से भापअ केन्द्र में आयोजित ''जन संचार माध्यमों के लिए विज्ञान लेखन'' कार्यशाला के आयोजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। विभिन्न संगोष्ठियों में सक्रिय रुप से भाग लिया तथा हिन्दी में कई वैज्ञानिक लेख भी प्रकाशित किए। परमाणु ऊर्जा प्रभाग हेतु पर हर वर्ष हिन्दी में तैयार की जाती वार्षिक रिपोर्ट से संबंधित अनुवाद प्रक्रिया से भी जुड़े रहे।

हिन्दी से संबंधित कार्यक्रमों में विशिष्ट योगदान के लिए उन्हें 1992 का प्रथम राजभाषा पुरस्कार और 1989 तथा 1991 में हि.वि.सा.प. द्वारा नामित राजभाषा पुरस्कार दिए गये। उन्होनें समय समय पर आकाशवाणी से कई वार्ताएं भी प्रस्तुत कीं।

वे एक स्पष्टवादी, कमर्ठ, सरल, संगीत, आध्यात्मप्रेमी तथा नेक दिल इन्सान थे। ''वैज्ञानिक'' परिवार, हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद तथा राजभाषा कार्यान्वयन समिति, भा.प.अ. केन्द्र, उनके निधन पर अत्यन्त शोक व्यक्त करते हैं तथा प्रार्थना करते हैं कि भगवान उनकी आत्मा को शांति तथा परिवार के सदस्यों को इस दुःख को सहने की शक्ति प्रदान करे।

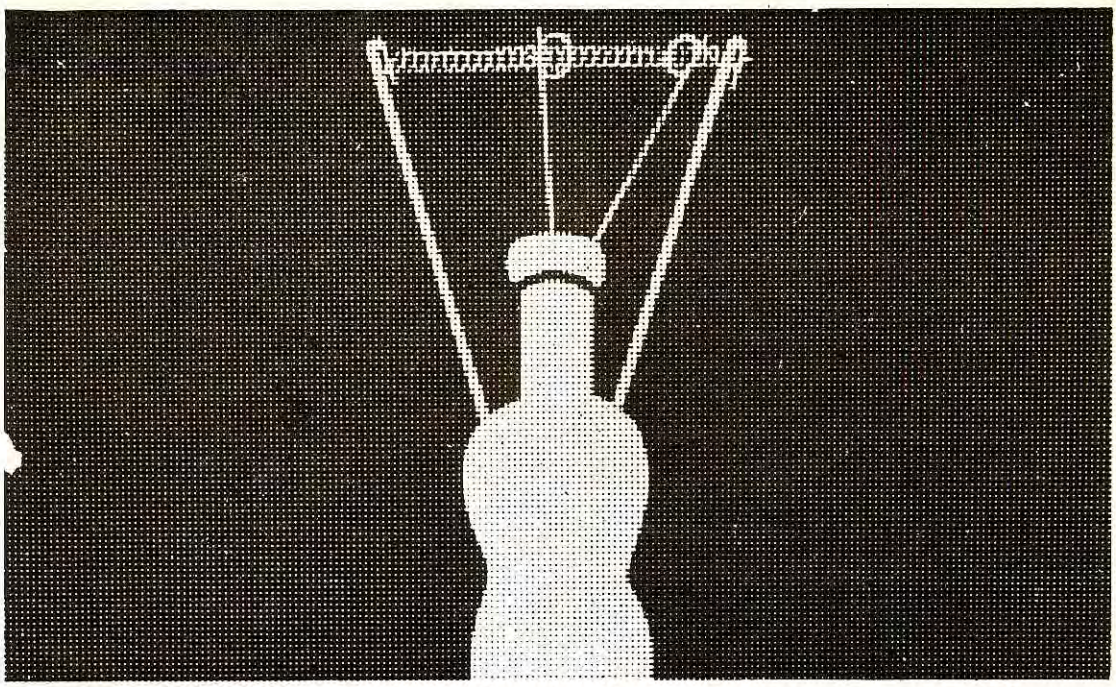

Midhani. Lighting the path to self-reliance in special metals and alloys.

Midhani is India's first and only special alloys plant manufacturing the entire range of special metals and alloys needed by various industries.

For instance, molybdenum, tungsten and high purity nickel for the lamp industry.

The basic production technology has been acquired from reputed foreign organisations like Creusot-Loire and Pechiney-Ugine-Kuhlmann of France and Krupp Kloeckner A of West Germany. Midhani also has the latest equipment and quality control facilities to ensure that all Midhani alloys meet international standards in quality and performance.

Some of the unique production facilities are the powder metallurgy shop for compacting, sintering, swaging and wire drawing of molybdenum and tungsten products, sophisticated melting and refining furnaces, precision forging, rolling and wire drawing equipment and a central quality control laboratory.

Midhani's product range includes iron, nickel and cobalt based superalloys, special purpose steels, titanium and titanum alloys, electrical and electronic alloys including electrical resistance alloys and powder metallurgy products.

MIDHANI

Mishra Dhatu Nigam Limited

(A Government of India Enterprise)

Kanchanbagh Hyderabad 500 258

Sista's/Midhani/153/84

विकिरण समस्थानिक [रेडियोआइसोटोप]

वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय प्रगति हेतु अनिवार्य साधन

विकिरण एवं आइसोटोप प्रौद्योगिकी बोर्ड (बी आर आई टी) ने देश में विविध रेडियो उत्पादों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में स्वयं को पूर्णतया समर्पित किया है। रेडियोआइसोटोप के उत्पादन एवं अनुप्रयोग हेतु इस क्षेत्र में अनुसंधान की कुछ उत्कृष्ट सुविधाएं ट्रॉबे में स्थापित की गयी हैं। स्वदेशी अनुसंधान एवं विकास कार्यों पर निर्भर रहते हुए 'ब्रिट' (बी आर आई टी) ने रेडियोआइसोटोप उत्पादों का विस्तृत रुप से विकास किया है एवं देश विदेश के 1000 से भी अधिक संगठनों की आवश्यकताओं की आपूर्ति की है।

कुछ महत्वपूर्ण उत्पाद एवं प्रदत्त सेवाएं इस प्रकार हैं:

- **विकिरण भेषज (रेडियोफार्मास्युटिकल्स) :**
  विभिन्न प्रकार के रोगों के निदान एवं थायराइड रोगों के उपचार हेतु।
- **विकिरण प्रतिरक्षा आमापन (रेडियो इम्यूनो ऐसे) किट्स :**
  हार्मोन्स तथा औषधियों की सूक्ष्म मात्रा के आकलन हेतु।
- **रेडियोरसायन एवं विकिरण स्रोत :**
  अनुसंधान, औद्योगिक अनुप्रयोगों एवं कैन्सर रोगोपचार हेतु।
- **रेडियोग्राफी कैमरे एवं उपसाधन :**
  सांचो तथा वेल्डों के रेडियोग्राफिक निरीक्षण हेतु।
- **गामा किरणन उपस्कर :**
  चिकित्सा उत्पादों के विकिरण निर्जर्मीकरण या खाद्य किरणन हेतु।
- **विकिरण निर्जर्मीकरण सेवा :**
  प्रयोज्य चिकित्सा उत्पादों जैसे, आई.सैट, वी.कैथीटर (मूत्रनलिका), जाली का कपड़ा, रुई, शल्य ब्लेड, दस्ताने, रिक्त पात्र आदि के विकिरण निर्जर्मीकरण हेतु।

कृपया, अधिक जानकारी हेतु सम्पर्क करें :

वरिष्ट प्रबंधक एवं विपणन संचालन प्रभारी,
विकिरण एवं आइसोटोप प्रोद्योगिकी बोर्ड (बी आर आई टी)
वि.ना.पुरव मार्ग, देवनार, बम्बई - 400 094.
टेलीफोन : 555 16 76/555 31 45
तार : ब्रिटएटम, बम्बई-94. टेलेक्स : 11 72212 ब्रिट इन्

इंडियन रेअर अर्थ्स लिमिटेड

शेरबानू, छटी मंजिल, **111,** महर्षि कर्वे रोड,
बंबई **- 400 020** (भारत)

: 290 914 -15 टेलेक्स : 011 - 83122

तार : रेअर अर्थ बंबई

: हमारे उत्पादन :

नाइट	रेअर अर्थ्स क्लोराइड
ल	रेअर अर्थ्स फ्लोराइड
कान	रेअर अर्थ्स ऑक्साइड एवं साल्टस
ॉन फ्लोर (जिरफ्लोर)	सीरियम ऑक्साइड
कोनियम ऑक्साइड	सीरियम हाइड्रेट
कोनियम आक्सीक्लोराइड	सीरियम कार्बोनेट
ट	ट्राइसोडियम फास्फेट (डोडेकाहाइट्रेड)
मेनाइट	समेरियम/इट्रियम/गैडोलिनियम सांद्र
जाइट	

थोरियम/सीरियम नाइट्रेट - थोरियम ऑक्साइड
एवं
कृत्रिम रुटाइल

हिंदी-विज्ञान साहित्य परिषद के लिए **डा. गोविंद प्रसाद कोठियाल** द्वारा संपादित तथा
प्रकाश गर्ग द्वारा मानस प्रिन्टेटस और एजंसीस, घाटकोपर, **बम्बई** में मुद्रित व प्रकाशित

वैज्ञानिक (त्रैमासिक) R. No. 18862/70
दिल्ली, नई दिल्ली, महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान व उ. प्र. के शिक्षा/विभागों द्वारा स्कूल व कॉलेजों के लिए स्वीकृत

NUCLEAR POWER CORPORATION

STEPPING UP POWER GENERATION FOR GENERATIONS TO COME

Nuclear Energy from the unlimited energy source. Environmentally clean and safe. Indigenously developed and totally self-reliant, to meet the growing energy demand for a better quality of life for our increasing millions.

NPC committed to serving the nation, utilising India's vast nuclear resources for generation of power for generations to come.

NUCLEAR POWER CORPORATION
(A Govt. of India Enterprise)

16th & 20th floor, World Trade Centre 1,
Cuffe Parade, Bombay 400 005.

NPC. Fuelling a powerful future.

CONTOUR ADS-NPC-421